उत्तर प्रदेश शिक्षा-विभाग द्वारा इंटरमीडिएट कक्षा के लिए स्वीकृत

पद्य-भारती

[हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन]

सम्पादक

डॉ० राकेशगुप्त

एम० ए०, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

बनारस

प्रकाशक

विद्याभवन

अमीनाबाद पार्क, लखनऊ

१९५६ मूल्य २)

अनुक्रम

प्राक्कथन

प्रस्तुत संकलन उत्तर-माध्यमिक कक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम-संबंधी नवीनतम निर्देशों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। कवियों का चुनाव बहुत सतर्कता के साथ किया गया है। आदि काल के कवियों को भाषा की जटिलता के कारण तथा उत्तर-मध्य काल के बहुत से कवियों को उनकी श्रृंगारिकता के कारण छोड़ दिया गया है। शेष कवियों में से केवल उन्हीं को चुना गया है, जिनकी उत्कृष्टता श्रेष्ठ आलोचकों द्वारा निर्विवाद रूप से मान्य हो चुकी हैं। चुने हुए कवियों की रचनाएँ प्राप्त काव्य-संग्रहों से संकलित न की जाकर उनके मूल-ग्रन्थों से ली गई हैं। काव्य-गत सौन्दर्य और नैतिकता के अतिरिक्त विविधता का भी ध्यान रखा गया है। प्रत्येक कवि की अच्छी से अच्छी रचनाएँ संकलित करते हुए यह बात भी सदैव दृष्टि में रखी गई है कि कोई दुर्बोध या क्लिष्ट रचना संगृहीत न हो जाए। कवियों के परिचय में उनकी प्रमुख विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। तिथियों के संबंध में इन संक्षिप्त परिचयों में कोई विवाद संभव नहीं था। अतएव विद्वानों द्वारा मान्य तिथियों को ही गृहीत किया गया है। प्रत्येक कवि की रचनाओं के अंत में कुछ आवश्यक प्रश्न भी दे दिए गए हैं, जिससे विद्यार्थियों को आलोचनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त संकेत प्राप्त हो सकें। इन प्रश्नों का चुनाव करते समय विद्यार्थियों के स्तर का पूर्ण ध्यान रखा गया है। 'हिन्दी कविता" शीर्षक भूमिका में हिंदी काव्य के विकास पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। विद्यार्थियों के लाभ के लिए पुस्तक के अंत में कठिन शब्दों के अर्थ भी दे दिए गए हैं। आशा है अपने प्रस्तुत रूप में हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की

प्रतिनिधि रचनाओं का यह संकलन विद्यार्थियों के हृदय में हिन्दी कविता के अध्ययन के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने में सहायक होगा।

सम्पादक भारती के उन महान् उपासकों का चिर-ऋणी है, जिनकी उत्कृष्ट काव्य-कृतियों को इस संग्रह में स्थान दिया गया है। साथ ही वह उन श्रेष्ठ आलोचकों का भी आभार हृदय से स्वीकार करता है, जिनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से परिचय और भूमिका लिखने में उसने सहायता ली है।

—सम्पादक

हिन्दी कविता

आदिकाल (१०००–१४०० ई०)

१००० ई० के आसपास, जब साहित्य की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़कर पुरानी हिन्दी का रूप धारण करने लगी थी, उत्तरी भारत का राजनीतिक वातावरण आक्रमणों और युद्धों की बहुलता के कारण अत्यधिक विक्षुब्ध हो उठा था। इस युग में काव्य-प्रतिभा-संपन्न अनेक चारणों ने तत्कालीन लोक-भाषा का आश्रय ग्रहण करके शृंगार-सिक्त-वीर-रस-प्रधान काव्यों की रचना की। युद्धों के आँखों देखे चित्रोपम वर्णनों तथा प्राणों का मोह न करने वाली असाधारण वीरता के अद्‌भुत दृश्यों से तो इस काल का साहित्य परिपूर्ण है ही, साथ ही 'वीरभोग्या वसुंधरा' के सिद्धान्त के अनुसार विजयश्री-प्राप्त वीरों के विलास-वर्णन में भी कमी नहीं की गई है। वास्तव में इस काल के अधिकांश युद्धों के मूल में कन्यापहरण ही प्रमुख कारण के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

आदिकाल की, जिसे वीरगाथा काल भी कहा गया है, चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' (१२०० ई० के निकट) नामक विशाल काव्य-ग्रंथ सब से महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें ६९ सर्ग हैं जो ढाई हजार पृष्ठों में पूर्ण हुए हैं। नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' (११५५ ई०) तथा जगनिक का 'आल्हा' अथवा 'परमाल रासो' (रचना-काल–११७३ ई० के निकट) इस युग के अन्य प्रमुख काव्य हैं। किन्तु राजनीतिक उलट-फेर तथा अशान्ति के कारण ये रचनाएँ अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी हैं, और आज ये जिस रूप में प्राप्त हैं उसे देखकर इनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं कही जा सकती।

इस काल के जैनियों और सिद्धों के अपभ्रंश-साहित्य का उल्लेख तो यहाँ अनावश्यक है, किंतु ब्रजभाषा और खड़ी बोली का प्राचीनतम रूप उपस्थित करने वाले सुकवि अमीर खुसरो (मृत्यु १३२४ ई०) को हम नहीं भुला सकते। जब इनके समकालीन अन्य लेखकों की काव्य-भाषा प्राकृत और अपभ्रंश की रूढ़ियों से जकड़ी हुई थी, इन्होंने अपने युग की व्यवहृत भाषा को ही अपनी रचनाओं में प्रयुक्त करने का साहस दिखाया। इनकी पहेलियों और मुकरियों में ठेठ खड़ी बोली के दर्शन होते हैं तथा गीतों और दोहों में ब्रजभाषा के।

पूर्व-मध्यकाल (१४००–१६०० ई०)

ईसवी सन् की प्रथम दस शताब्दियाँ, जिनमें अधिकांश पुराणों की रचना हुई थी, भक्ति के सशक्त आन्दोलन का युग थीं। रामानुज, निंबार्क तथा मध्व जैसे आचार्यों ने भक्ति को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान करने के लिए इस आन्दोलन को और अधिक व्यापक बनाया, तथा रामानन्द, चैतन्य और वल्लभ ने १५ वीं एवं १६ वीं शताब्दियों में राम-कृष्ण की भक्ति की प्रबल धारा से सारे उत्तर भारत को पूर्णतया आप्लावित कर दिया। चौरासी सिद्धों की रचनाओं से पुष्ट हठयोग-प्रधान नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव तो उत्तर भारत में पहले से ही चला आ रहा था। इसी समय मुसलमान सूफ़ी सन्तों की प्रेम-साधना का भी भारतीय धर्म-भावना से योग हुआ। असाधारण-प्रतिभा-युक्त श्रेष्ठ कवियों ने इन विभिन्न धार्मिक विचार-धाराओं को अपनी सशक्त वाणी द्वारा जनता के बीच में प्रचारित एवं प्रसारित किया। इस प्रकार हिन्दी कविता चार धाराओं में विभक्त होकर जन-जीवन को आन्दोलित करने लगी। इनमें से दो धाराएँ निर्गुण की उपासना से तथा अन्य दो सगुण की उपासना से संबद्ध हैं। निर्गुण-उपासना की दो धाराओं में से एक का लगाव हठ-योगियों के ज्ञानमार्ग से तथा दूसरी का सूफ़ियों के प्रेममार्ग से है। सगुण-उपासना

की दो धाराएँ क्रमशः कृष्ण और राम की भक्ति को आधार मानकर चली हैं।

निर्गुण-उपासना की ज्ञान-मार्गी धारा का प्रवर्तन सन्त-शिरोमणि महात्मा कबीरदास जी ने किया। कबीरदास जी (१३९९–१५१८ ई०) तथा इस धारा के अन्य कवि यद्यपि मूल रूप से हठयोग की साधना करनेवाले नाथपंथी योगियों की परंपरा में थे, किन्तु संकुचित साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का सर्वथा त्याग करके उन्होंने मानव-कल्याण के लिए प्रत्येक धर्म और संप्रदाय से उसकी श्रेष्ठ बातों को निःसंकोच ग्रहण किया। वेदान्त-दर्शन का अद्वैत सिद्धांत, सूफ़ियों की प्रेम-साधना तथा वैष्णवों की अहिंसा और भक्ति इन कवियों के काव्य और व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। आडम्बर से उन्हें चिढ़ थी तथा पाखंड का खंडन करने के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट साधना से ईश्वर की प्राप्ति में उनका विश्वास था तथा परमात्मा से साक्षात्कार के अनुभव को उन्होंने लौकिक प्रतीकों की भाषा में अभिव्यक्त किया है। इस धारा के अधिकांश कवि बहुश्रुत और मेधावी तो थे, किन्तु सुपठित विद्वान् नहीं थे। (स्वयं कबीरदास जी ने 'मसि-कागद' हाथ से छुआ तक नहीं था।) फिर भी उनके व्यक्तित्व की मस्ती तथा उनकी वाणी की अकृत्रिमता में कुछ ऐसा आकर्षण था, जिसने एक विशाल जन-समूह को उनका प्रशंसक, भक्त तथा अनुगत बना दिया था। जन्म और जाति के आधार पर ऊँच-नीच के भेद का उन्होंने सशक्त विरोध किया था, जिससे तथाकथित निम्न वर्ग के लोगों को आशा का एक नया संदेश प्राप्त हुआ। सिख संप्रदाय के आदि गुरु नानक (१४६९–१५३९ ई०), प्रेम-भाव का सरस और गंभीर निरूपण करने वाले दादूदयाल (१५४४-१६०३ ई०), सुशिक्षित होने के कारण सुसंस्कृत रचना करनेवाले सुन्दर-दास (१५९६—१६८९ ई०) तथा मस्त-महाराज मलूकदास (१५७४-१६८२ ई०) इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

खंडन-मंडन के झगड़े से दूर रहकर ठेठ अवधी भाषा में लोक-प्रचलित भारतीय कहानियों को सरस काव्य-रूप प्रदान करनेवाले मुसलमान

सूफ़ी सन्तों ने भी हिन्दी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। ये कहानियाँ दोहा-चौपाई छंदों में लिखी गई हैं, तथा किसी राजकुमार अथवा राजा के किसी अलौकिक सुन्दरी राजकुमारी के प्रति आकर्षण से आरंभ होती हैं। राजा प्रेम में पागल होकर घर से निकल पड़ता है, तथा अनेक कष्टों को झेल कर अन्त में उस राजकुमारी को प्राप्त कर लेता है। ये रचनाएँ लौकिक कहानी के रूप में तो अपने आप में पूर्ण और रोचक हैं ही, साथ ही इनमें आध्यात्मिक प्रेम के संकेत भी मिलते हैं। राजकुमार और राजकुमारी क्रमशः साधक और ईश्वर के प्रतीक होते हैं। हिन्दी में प्रेम-मार्गी निर्गुण काव्य धारा को प्रौढ़ता प्रदान करने का श्रेय मलिक मुहम्मद जायसी को (१५००-१५४२ ई०) है जिनका 'पदमावत' हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि है। इस धारा में जायसी से पहले की दो रचनाएँ प्राप्त हैं—(१) कुतवन की 'मृगावती' (१५०१ ई०) जिसमें चंद्रनगर के राज-कुमार तथा कंचनपुर की राजकुमारी की प्रेम-कथा वर्णित है, तथा (२) मंझन की 'मधुमालती' जिसमें कनेसरनगर के राजकुमार तथा महारसनगर की राजकुमारी प्रमुख पात्र हैं। जायसी के वाद इस परंपरा में लिखी गई रचनाओं में उसमान की 'चित्रावली' (१६१३ ई०) तथा शेखनबी (१६१९ ई० में वर्तमान) का 'ज्ञानदीप' उल्लेखनीय हैं।

मध्ययुग में उत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जितनी व्यापकता कृष्ण-काव्य की धारा को प्राप्त हुई उतनी शेष तीनों धाराओं में से किसी अन्य को न हो सकी। निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभ आदि आचार्यों की प्रेरणा से अनेक श्रेष्ठ कवियों की वाणी राधा और कृष्ण के पौराणिक व्यक्तित्व को और भी अधिक मनोरम रूप में प्रस्तुत करने के लिए तत्पर हुई। अपनी कल्पना के द्वारा इन कवियों ने राधा, कृष्ण और गोपियों की प्रेम-लीलाओं में अनेक नवीन एवं हृदयस्पर्शी परिस्थितियों की उद्-भावना की। १४०० ई० के पूर्व बारहवीं शताब्दी में संस्कृत कवि जयदेव अपनी अमृतोपम मधुर वाणी में राधा और कृष्ण के प्रेम-विलास का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित कर चुके थे, तथा चौदहवीं शताब्दी में बंगला

कवि चंडीदास ने प्रेमोन्माद की साकार प्रतिमा राधा की मर्मभेदी व्यथा को शब्दों में बाँधने का सफल प्रयत्न किया था। १४०० ई० के आसपास हिन्दी के मैथिल कवि विद्यापति ने यौवन और शैशव की संधि पर खड़ी हुई राधा के अतुल सौन्दर्य-संपदा तथा विलास-विभ्रम से पूर्ण व्यक्तित्व को सरस गीतों के साँचे में ढालकर हिन्दी में कृष्ण-काव्य-धारा का सूत्रपात किया। महाकवि सूरदास (१४७८-१५८३ ई०) ने कृष्ण-लीला के काव्य-मय वर्णन को विविधता और विस्तार दोनों की दृष्टियों से चरम उत्कर्ष प्रदान किया। कृष्ण की वाल-लीला के वर्णन में तो वे प्रायः अकेले ही हैं। वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग के अनुयायी अष्टछाप के अन्य कवियों ने (कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीत-स्वामी, गोविन्द स्वामी) भी कृष्णलीला संबंधी विशाल साहित्य का निर्माण किया। अपने गीतों की मधुरिमा के कारण कृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाने वाले राधावल्लभीय संप्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश जी ने (जन्म १५०२ ई०) राधा-कृष्ण के संयोग-शृंगार की झाँकी सजाई है। राजस्थान की महान् कवयित्री मीरावाई ने (जन्म १५०० ई० के निकट) कृष्ण की प्रेमिका के रूप में जिन अकृत्रिम भावों की अभिव्यंजना की है वे किसी भी साहित्य के गौरव हो सकते हैं। इस प्रकार मुक्तक गीतिकाव्य के सहज माधुर्य-युक्त प्रवाह में चिरकाल तक वहते हुए कृष्ण काव्य ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

चौदहवीं शताव्दी के अन्त तथा पन्द्रहवीं शताव्दी के आरंभ में रामानु-जाचार्य की शिष्य-परंपरा में रामानन्द नाम के एक महान् सन्त हुए जिन्होंने राम की भक्ति का प्रचार किया। कवीर तथा दूसरे निर्गुण सन्तों ने उनसे राम नाम की दीक्षा ग्रहण करके राम की भक्ति को व्यापक वनाया। अवतारवाद का खंडन करनेवाले इन निर्गुण संतों के राम दशरथ के पुत्र न होकर निर्गुण ब्रह्म के ही पर्याय थे। किन्तु स्वामी रामानन्द स्वयं सगुणो-पासक थे। राम के सगुण रूप की भक्ति को साहित्य के सशक्त माध्यम से जनता के हृदय तक पहुँचने का सुयोग गोस्वामी तुलसीदास का (१५३२-

१६२३ ई०) आविर्भाव होने पर प्राप्त हुआ। तुलसीदास जी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के चरित को विभिन्न काव्य-शैलियों में पूर्णता तक पहुँचा कर इतना लोकप्रिय बना दिया कि फिर उनके पश्चात् बहुत समय तक इस विषय पर लिखने का दूसरे कवियों को साहस ही नहीं हुआ। नाटकीयता और प्रत्युत्पन्नमति से पूर्ण संवादों से युक्त केशवदास की 'रामचंद्रिका' (१६०१ ई०) रामचरित पर तुलसी की रचनाओं के अतिरिक्त इस काल का एकमात्र महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

उत्तर-मध्यकाल (१६००–१८०० ई०)

अपने 'रसिक-प्रिया' (१५९१ ई०) और 'कवि प्रिया' (१६०१ ई०) नामक साहित्य-शास्त्र-संबंधी ग्रंथों की रचना करके आचार्य केशवदास ने ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में रीति-काव्य की परंपरा को जन्म दिया। उनके प्रभाव-पूर्ण व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण करके अलंकार, नायिका-भेद तथा साहित्य-शास्त्र के अन्य अंगों पर अनेक आचार्य-कवियों ने श्रेष्ठ रीति-काव्य ग्रंथों का निर्माण किया। यद्यपि गद्य-साहित्य के निर्माण का आरंभ हो चुकने के कारण १८०० ई० के बाद का समय आधुनिक काल के अंतर्गत आता है किन्तु कविता के क्षेत्र में रीति-ग्रंथों की परंपरा तथा उत्तर-मध्यकाल की अन्य प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक चलती रहीं। गद्य के माध्यम के अभाव के कारण इन रीति-ग्रंथकार कवियों का शास्त्रीय विवेचन तो बहुत गंभीर एवं तर्कपूर्ण नहीं हो सका है, किन्तु कृष्ण की शृंगार लीला का चित्रण करनेवाली अलंकार, नायिका आदि के उदाहरणों के रूप में लिखित इनकी मुक्तक काव्य-रचना अत्यधिक सरस एवं हृदयग्राही हुई है। चिन्तामणि त्रिपाठी (जन्म १६१० ई० के निकट), मतिराम (जन्म १६१७ ई० के निकट), भूषण (जन्म १६१३ ई० के निकट), देव (जन्म १६७३ ई० के निकट), भिखारीदास (कविताकाल १७३०-५० ई०) तथा पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०) इस युग के प्रमुख रीति-ग्रंथकार कवि हैं। इनमें एकमात्र भूषण ने अपने उदाहरण शृंगार रस में न लिखकर

वीर रस में लिखे हैं। अपनी रचना के कला-पक्ष के शृंगार में अत्यधिक 'सावधान' रहनेवाले कविवर सेनापति (१६००-१६४९ ई०) तथा साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों को ध्यान में रखकर सरस दोहों की रचना करनेवाले उत्तर मध्यकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि बिहारी का (१६०३-१६६३ ई०) उल्लेख भी, इनके रीति काव्य की परंपरा से पूर्णतया अभिभूत होने के कारण, यहीं पर कर देना समीचीन होगा।

उत्तर-मध्य काल में रीति-काव्य के समानान्तर एक दूसरी धारा स्वच्छन्द प्रेम-काव्य की भी वह रही थी। इस धारा के कवियों ने जिनमें, रसखान (रचना काल १६०० ई० के निकट), घनानंद (१६९०-१७६० ई०) और ठाकुर (१७६६-१८२३ ई०) प्रमुख हैं, अपने भावों को नायिका-भेद और अलंकार आदि की सीमाओं में न बांध कर मुक्त रूप से अभिव्यक्त किया है। इन प्रेमोन्मत्त कवियों की प्रेम-व्यंजना, जो रीतिवद्ध कविता की भाँति ही प्रायः कृष्ण, राधा और गोपियों को आलंबन मानकर चली है, अत्यधिक मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी हुई है।

शृंगार की इन दोनों (रीतिवद्ध और रीतिमुक्त) धाराओं के अतिरिक्त इसी युग में वीर रस तथा नीति-काव्य की धाराएँ भी प्रवाहित होती रहीं। रीति-ग्रंथकार कवियों में से केशव ने 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा पद्माकर ने 'हिम्मत वहादुर-विरुदावली' नामक वीररस के काव्य लिखे। भूषण के तीनों ग्रंथ ('शिवराज-भूषण', शिवा-वावनी' तथा 'छत्रसाल-दशक')वीर रस से ही संवंधित हैं। लाल कवि का (मृत्यु १७०७ ई० के निकट) 'छत्र-प्रकाश' तथा सूदन का (कविताकाल—१७६० ई०) 'सुजान-चरित' इसी युग के वीर रस के प्रसिद्ध काव्य हैं। नीति-काव्य के लेखकों में रहीम (१५५३-१६२६ ई०), वृन्द (रचनाकाल—१७०४ ई०), गिरिधर (जन्म—१७१३ ई०)और दीनदयाल गिरि(१८०३-१८५८ ई०)प्रमुख हैं।

आधुनिक काल (१८०० ई० से अवतक)

गद्य के उद्‌भव और प्रसार के साथ आधुनिक युग का आरंभ हो चुकने

पर भी उन्नीसवीं शताब्दी में काव्य-रचना की दृष्टि से मध्ययुग का विस्तार ही दृष्टि गोचर होता है। आधुनिक युग के प्रकाश-स्तम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०) के अधिकांश काव्य-साहित्य में भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की ही प्रवृत्तियों का सन्निवेश है। वे खड़ी बोली के गद्य की एकमात्र भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकने पर भी काव्य की भाषा के रूप में एकमात्र ब्रजभाषा को ही स्वीकार करते थे। ब्रजभाषा काव्य की इस परंपरा को जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (१८६६-१९३२ ई०) जैसे उत्कृष्ट कवियों ने बीसवीं शताब्दी तक जीवित रखा है।

कविता के क्षेत्र में आधुनिक युग का आरंभ पं० श्रीधर पाठक (१८७६-१९२८ ई०) की खड़ी बोली की रचना 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०) के प्रकाशन से मानना चाहिए। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५-१९४७ ई०) तथा डा० मैथिलीशरण गुप्त ने (जन्म १८८४ ई०) खड़ी बोली को भलीभाँति सँवार और निखार कर स्थायी रूप से काव्य-भाषा का पद प्रदान किया। पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा (१८५९-१९३२ ई०), पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (जन्म १८८३ ई०) तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी (जन्म १८८९ ई०) इसी पीढ़ी के अन्य श्रेष्ठ कवि हैं।

अपने उत्थान के प्रथम चरण में खड़ी बोली की कविता भावना के वेग तथा कल्पना की रंगीनी की अपेक्षा इतिवृत्तात्मकता से अधिक ग्रथित थी। "अतः खड़ी बोली की कविता में पद-लालित्य, कल्पना की उड़ान, भाव की वेगवती व्यंजना, वेदना की विवृति, शब्द-प्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक" बातों को देखने की बढ़ती हुई आकांक्षा के फलस्वरूप छायावाद नाम की एक नयी काव्य-धारा का उद्भव हुआ। इस नयी धारा की कविता में खड़ी बोली को, जो अपने खड़ेपन के कारण नीरस और कर्कश समझी जाती थी, एक अभूतपूर्व मधुरिमामयी सुकुमारता प्राप्त हुई। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अभिधा के स्थान पर लाक्षणिकता को प्रमुखता मिली, जिसके विशेषण-विपर्यय, विरोधमूलक वैचित्र्य, भावनाओं का मानवीकरण, सादृश्य अथवा साधर्म्य के स्थान पर अप्रस्तुत प्रतीकों की योजना तथा प्रकृति-चित्रण

द्वारा मानवीय भावों की अभिव्यंजना प्रधान उपादान हैं। श्री जयशंकर 'प्रसाद' (१८९०-१९३७ ई०), पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (जन्म १८९६ ई०), पं० सुमित्रानंदन पंत (जन्म १९०१ ई०) तथा श्रीमती महादेवी वर्मा (जन्म १९०७ ई०) इस काव्य-धारा के चार स्तम्भ हैं।

देश के स्वतंत्रता-आन्दोलन को प्रतिध्वनित करनेवाली कविता की राष्ट्रीय धारा उपर्युक्त दोनों धाराओं के समानान्तर निरन्तर बहती रहती है। डॉ० मैथिलीशरण गुप्त, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० माखनलाल चतुर्वेदी (जन्म १८८८ ई०), पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (जन्म १८९७ ई०), श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान (जन्म १९०४ ई०) तथा श्री रामधारी-सिंह 'दिनकर' (जन्म १९०८ ई०) हिन्दी के प्रमुख राष्ट्रीय कवि हैं।

हिन्दी की सम-सामयिक कविता-धारा प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के कूलों से टकराती हुई भविष्य के उन महान् कवियों की प्रतीक्षा में है, जो अपनी प्रतिभा के बल और वैभव से उसे व्यवस्थित और समृद्ध बनाएँगे।

कबीरदास

सन्त-शिरोमणि महात्मा कबीरदास जी का जन्म १३९९ ई० में उत्तरी भारत के शास्त्र-चर्चा के प्रमख केन्द्र काशी में हुआ। उनके जन्म और माता-पिता के संबंध की किंवदन्तियों को विशेष महत्त्व न देकर इतना कहना पर्याप्त होगा कि नाथपंथी योगियों के भाव और संस्कार से युक्त नीरू नामक एक मसलमान जुलाहे के परिवार में उनका लालन-पालन हुआ। आगे चलकर स्वामी रामानंद को कबीर ने अपना गुरु माना तथा राम नाम के अतिरिक्त वैष्णव धर्म और वेदान्त दर्शन की अनेक गूढ़ और अच्छी बातें उन्हीं से ग्रहण कीं। हठयोगियों की साधना और अहंभाव को समाप्त करने वाला सूफ़ियों का प्रेम-सिद्धान्त—ये दोनों ही मार्ग कबीरदास को समान रूप से प्रिय हुए। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान धर्म की उन सभी बातों की, जो उनके मत से पाखंड-पूर्ण आडम्बर मात्र थीं, कठोर एवं निर्मम आलोचना की। वे धर्मों, जातियों और वर्गों में विभाजित मनुष्य के लिए प्रेम और एकता का आशा-पूर्ण सन्देश लेकर अवतरित हुए। काशी में मरकर सस्ती मुक्ति प्राप्त करने के पक्ष में वे नहीं थे (उनका विश्वास था कि मुक्ति-प्राप्ति केवल सत्कर्मों पर निर्भर है)। कदाचित् इसी कारण उन्होंने स्वेच्छा से मगहर में जाकर १५१८ ई० में शरीर त्याग किया।

कबीर की रचनाएं तीन शैलियों में विभक्त हैं—रमैनी, शब्द, और साखी। रमैनियों और शब्दों में उन्होंने पूरबी-मिश्रित ब्रजभाषा का व्यवहार किया है, किन्तु साखियों की भाषा राजस्थानी, पंजाबी और खड़ी

बोली का एक मिला-जुला रूप है। कबीर स्वयं अक्षर ज्ञान से शून्य थे, अतएव उनकी रचनाएँ उनके शिष्यों द्वारा लिपि-बद्ध की गई थीं।

कबीर के काव्य का महत्त्व उनके हृदय की स्वच्छता, उनकी घर-फूंक मस्ती तथा उनकी निडर स्पष्टवादिता में ही निहित है। उन्होंने अपनी उक्तियों को भाषा के माधुर्य और अलंकार की चमक से कभी आकर्षक बनाने का प्रयास नहीं किया। फिर भी अपने भावों को जिस बेधड़क और आत्म-विश्वास-युक्त शैली में उन्होंने अभिव्यक्त किया है वह हृदय को प्रभावित किए बिना नहीं रहती। गुरु की महिमा, प्रेम की अनन्यता, परोपकार, हृदय की पवित्रता, अहिंसा, अवतारवाद एवं मूर्तिपूजा का खंडन, रोज़ा-नमाज़ की असारता, परमात्मा से मिलन के लिए साधना तथा आत्मा-परमात्मा का प्रेमपूर्ण मिलन उनके काव्य के मुख्य विषय हैं। दैनिक जीवन में सद्व्यवहार और सच्चरित्रता पर उन्होंने विशेष बल दिया है।

कबीरदास जी निःसंदेह महापुरुष थे। उनका हृदय विशाल था, उनकी प्रतिभा अनोखी थी, और उनका व्यक्तित्व महान् था।

साखी

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपकार।
लोचन अनँत उघारियाँ, अनँत दिखावनहार॥१॥

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय॥२॥

गुरू मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप।
हर्ष सोक व्यापै नहीं, तब गुरु आपै आप॥३॥

सतगुरु साँचा सूरमा, नख सिख मारा पूर।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूर॥४॥

जा का गुरु है आँधरा, चेला निपट निरंध।
अंधे आँधर ठेलिया, दोऊ कूप परंत॥५॥

सुपनहु में बर्राइ के, धोखेहु निकरै नाम।
वा के पग की पैंतरी, मेरे तन को चाम॥६॥

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवाँ तो दहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमरिन नाहिं॥७॥

हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।
सब जग जरता देख करि, भये कबीर उदास॥८॥

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय॥९॥

माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकारि।
फूली फूली चुनि लिये, कालिह हमारी बारि॥१०॥

भक्ति भाव भादों नदी, सबै चलीं घहराय।
सरिता सोई सराहिये, जो जेठ मास ठहराय॥११॥

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलैं नाहिं॥१२॥

बिरह तेज तन में तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीव में, मौत ढूँढि फिरि जाय॥१३॥

येहि तन का दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥१४॥

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तव पैठे घर माहिं॥१५॥

सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥१६॥

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥१७॥

पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खडग, देखा सुना न कान॥१८॥

समुँद पाटि लंका गयो, सीता को भरतार।
ताहि अगस्त अचै गयो, इनमें को करतार॥१९॥

सिहों के लेहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साध न चलैं जमात॥२०॥

यार बुलावै भाव से, मो पै गया न जाय।
धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्कौं पाँय॥२१॥

बसंत ऋतु जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात।
ता तें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात॥२२॥

जहाँ काम तहँ नाम नहिं, जहाँ नाम नहिं काम।
दोनों कबहूँ ना मिलै, रवि रजनी इक ठाम ॥२३॥

आव गई आदर गया, नैनन गया सनेह।
ये तीनों जबहीं गये, जबहिं कहा कछु देह ॥२४॥

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी सावुन बिना, निर्मल करै सुभाय ॥२५॥

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार।
ता तें ये चाकी भली, पीसि खाय संसार ॥२६॥

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जान।
दस द्वारे का देहरा, ता में जोति पिछान ॥२७॥

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय ॥२८॥

शब्द

— १ —

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥टेक॥
तन रती करि मैं मन रती करिहूँ, पंचतत्त बराती।
रामदेव मोरै पाँहुनै आये, मैं जोबन मैं माती ॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
राँम देव सँगि भाँवरि लैहूँ, धँनि धँनि भाग हमार ॥
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हँम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥

— २ —

पंडित बाद वदंते झूठा।
राम कह्याँ दुनियाँ गति पावै, षांड कह्याँ मुख मीठा ॥टेक॥
पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई॥
नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनै॥
साँची प्रीती विषै माया सूँ, हरि भगतनि सूँ हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बाँध्यौ, जमपुरि जासी॥

— ३ —

काहे री नलनीं तूँ कुभिलानी,
तेरें ही नालि सरोवर पानीं ॥टेक॥
जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनीं तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि॥
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हँमारे जान॥

— ४ —

हरि जननीं मैं बालक तेरा,
काहे न औगुण बकसहु मेरा ॥टेक॥
सुत अपराध करै दिन केते, जननीं कै चित रहैं न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर एक वुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥

— ५ —

साधो सहज समाधि भली।

गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली॥
जँह जँह डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा॥
कहौं तो नाम सुनौं सो सुमिरन, खावें पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥
आँख न मूँदौं कान न रूधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुंदर रूप निहारौं॥
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख सुख से कोई परे परम पद, तेहि पद रहा समाई॥

मलिक मुहम्मद जायसी

प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म १५०० ई० के निकट रायबरेली जिले के जायस नगर में हुआ। ऊँचे टीले पर बसा हुआ यह स्थान किसी समय सूफ़ी सन्तों का बड़ा भारी केन्द्र रहा है। सैयद अशरफ जहाँगीर और शेख मुहीउद्दीन जायसी के गुरू थे। एक नेत्र तथा एक श्रवण से रहित जायसी का वाह्य रूप यद्यपि आकर्षक नहीं था, किन्तु अपनी असाधारण प्रतिभा, सहृदयता एवं साधुता के कारण वे बड़े-बड़े श्रीमानों के लिए भी श्रद्धा के पात्र थे। १५४० ई० में उन्होंने मसनवी शैली में लिखे गए अपने 'पदमावत' नामक विशाल काव्य-ग्रन्थ को पूरा करके हिन्दी में सूफ़ी काव्य-धारा को प्रौढ़ता प्रदान की। १५४२ ई० में एक शिकारी की गोली से दुर्घटनावश उनकी असामयिक मृत्यु हो गई।

अपनी उदार सारग्राहिणी प्रवृत्ति के कारण जायसी ने मुहम्मद साहब और उनके मार्ग पर पूरी आस्था रखते हुए भी हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य से संबंधित अपनी विस्तृत जानकारी का अनेक स्थलों पर सहृदयतापूर्ण उल्लेख किया है। हठयोग का सिद्धान्त तो उनके 'पदमावत' का एक अनिवार्य अंग बन गया है। 'पदमावत' का कथानक भी लेखक ने एक लोकप्रसिद्ध कथा से ही ग्रहण किया है। उसका पूर्वार्द्ध तो सर्वथा कल्पित है, किन्तु उत्तरार्द्ध, जिसका संबंध अलाउद्दीन की चढ़ाई से है, बहुत कुछ ऐतिहासिक है।

सूफ़ी सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा अनन्त सौन्दर्य, आनन्द, गुण और शक्ति का निधान है। सूफ़ी ईश्वर की सुन्दरता को जगत् में देखते हुए ईश्वर के प्रेम में आनन्द-विभोर रहते हैं। उनका 'अनलहक़' का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के 'अहं ब्रह्मास्मि' के बहुत निकट है। परमात्मा को प्राप्त करने का एक मात्र साधन प्रेम है, परमात्मा के प्रति प्रेम-भाव का उदय होते ही साधक विरह की पीड़ा से व्याकुल हो जाता है, और परमात्मा को प्राप्त करने के उद्योग में मार्ग की कठिनाइयों से विचलित न होता हुआ तब तक लगा रहता है जब तक अपने लक्ष्य तक न पहुँच जाए।

जायसी ने अपने काव्य 'पद्मावत' में प्रेम-मार्ग की इसी साधना का संकेत किया है। राजा रतनसेन साधक हैं और अनन्त सौन्दर्य की निधि पद्मावती साध्य अथवा ईश्वर। प्रेम की पीर की मर्मस्पर्शी व्यंजना और मिलन के अलौकिक आनन्द का हृदयहारी चित्रण—ये दोनों ही 'दमापवत' में अपने उत्कृष्ट रूप में प्राप्त हैं। जायसी की प्रबन्ध-पटुता और वर्णन-कुशलता भी सराहनीय हैं। नखशिख, बारहामासा और षड्ऋतु के वर्णन इस बात के प्रमाण हैं कि साहित्य-शास्त्र की परम्परा से भी जायसी भली-भाँति परिचित थे। श्रृंगार और आध्यात्म के अतिरिक्त उन्होंने युद्धों के प्रसंग में वीर रस का भी चित्रण जिस सफलता के साथ किया है उससे उनके अनुभूति-क्षेत्र की व्यापकता प्रकट होती है। ठेठ अवधी भाषा का माधुर्य तथा भावाभिव्यंजन की असाधारण क्षमता जायसी के दो ऐसे काव्यगुण हैं, जिनके कारण हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में उनका स्थान सुरक्षित है।

गोरा-बादल-युद्ध

मतैं बैठि बादल औ गोरा । सो मत कीज परै नहिं भोरा ।।
पुरुष न करहिं नारि मत काँची । जस नौशाबा कीन्ह न बाँची ।।
परा हाथ इसकंदर बैरी । सो कित छोड़ि कै भई बँदेरी ।।
सुबुधि सौं ससा सिंघ कहँ मारा । कुबुधि सिंघ कूआँ परि हारा ।।
देवहिं छरा आइ अस आँटी । सज्जन कंचन, दुर्जन माटी ।।
कंचन जुरै भए दस खण्डा । फूटि न मिलै काँच कर भंडा ।।
जस तुरकन्ह राजा छर साजा । तस हम साजि छोड़ावहिं राजा ।।

पुरुष तहाँ पै करै छर, जहँ बर किए न आँट ।
जहाँ फूल तहँ फूल है, जहाँ काँट तहँ काँट ।।१।।

सोरह सै चंडोल सँवारे । कुँवर सजोइल कै बैठारे ।।
पदमावति कर सजा बिवानू । बैठ लोहार न जानै भानू ।।
रचि बिवान सो साज सँवारा । चहुँ दिसि चँवर करहिं सब ढारा ।।
साजि सबै चंडोल चलाये । सुरँग ओहार, मोति बहु लाये ।।
भए सँग गोरा बादल बली । कहत चले पदमावति चली ।।
हीरा रतन पदारथ झूलहिं । देखि बिवान देवता भूलहिं ।।
सोरह सै सँग चलीं सहेली । कँवल न रहा और को बेली ।।

राजहिं चलीं छोड़ावै तहँ रानी होइ ओल ।
तीस सहस तुरि खिची सँग, सोरह सै चंडोल ।।२।।

राजा बँदि जेहि के सौंपना । गा गोरा तेहि पहँ अगमना ।।
टका लाख दस दीन्ह अँकोरा । बिनती कीन्ह पायँ गहि गोरा ।।
बिनवौ बादसाह सौं जाई । अब रानी पदमावति आई ।।
बिनती करै आइ हौं दिल्ली । चितउर कै मोहि स्यो है किल्ली ।।
बिनती करै जहाँ है पूंजी । सब भंडार कै मोहि स्यो कूंजी ।।

एक घरी जौ अज्ञा पावौं। राजहिं सौंपि मँदिर महँ आवौं ॥
तव रखवार गए सुलतानी। देखि अँकोर भए जस पानी ॥

लीन्ह अँकोर हाथ जेहि, जीउ दीन्ह तेहि हाथ।
जहाँ चलावै तहँ चलै, फेरे फिरै न माथ ॥३॥

लोभ-पाप कै नदी अँकोरा। सत्त न रहै हाथ जौ बोरा ॥
जहँ अँकोर तहँ नीक न राजू। ठाकुर केर विनासै काजू ॥
भा जिउ घिउ रखवारन्ह केरा। दरव-लोभ चंडोल न हेरा ॥
जाइ साह आगे सिर नावा। ए जगसूर! चाँद चलि आवा ॥
जावत हैं सब नखत तराईं। सोरह सै चंडोल सो आईं ॥
चितउर जेति राज कै पूँजी। लेइ सो आइ पदमावति कूँजी ॥
बिनती करे जोरि कर खरी। लेइ सौंपौं राजा एक घरी ॥

इहाँ उहाँ कर स्वामी! दुऔ जगत मोहिं आस ॥
पहिले दरस दिखावहु, तौ पठवहु कबिलास ॥४॥

आज्ञा भई, जाइ एक घरी। छूँछि जो घरी फेरि विधि भरी ॥
चलि बिवान राजा पहँ आवा। सँग चंडोल जगत सब छावा ॥
पदमावति के भेस लोहारू। निकसि काटि बँदि कीन्ह जोहारू ॥
उठा कोपि जस छूटा राजा। चढ़ा तुरंग सिंघ अस गाजा ॥
गोरा बादल खाँडै काढ़े। निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े ॥
तीख तुरंग गगन सिर लागा। केहुँ जुगुति करि टेकी वागा ॥
जो जिउ ऊपर खड़ग सँभारा। मरत हार सो सहसन्ह मारा ॥

भईं पुकार साह सौं, ससि औ नखत सो नाहिं ॥
छर कै गहन गरासा, गहन गरासें जाहिं ॥५॥

लेइ राजा चितउर कहँ चले। छूटेउ सिंघ, मिरिग खलभले ॥
चढ़ा साहि, चढ़ि लागि गोहारी। कटक असूझ परी जग कारी ॥
फिरि बादल गोरा सौं कहा। गहन छूटि पुनि चाहै गहा ॥
चहुँ दिसि आवै लोपत भानू। अब इहै गोइ, इहै मैदानू ॥
तुइ अब राजहि लेइ चलु गोरा। हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा।
वह चौगान तुरुक कस खेला। होइ खेलार रैन जुरौं अकेला ॥
तौं पावौं बादल अस नाऊँ। जौ मैदान गोइ लेइ जाऊँ ॥
आजु खड़ग चौगान गहि करौं सीस-रीपु गोइ।
खेलौं सौंह साह सौं, हाल जगत महँ होइ ॥६॥
तब अगमन होइ गोरा मिला। तुइ राजहि लेइ चलु बादला ॥
पिता मरै जो सँकरे साथा। मीचु न देइ पूत के माथा ॥
मैं अब आउ भरी औ भूँजी। का पछिताव, आउ जौ पूजी ? ॥
बहुतन्ह मारि मरौं जौ जूझी। तुम जिनि रोएहु तौ मन बूझी ॥
कुँवर सहस सँग गोरा लीन्हें। और बीर बादल सँग कीन्हें ॥
गोरहि समदि मेघ अस गाजा। चला लिए आगे करि राजा ॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा। पूरुष देखि चाव मन बाढ़ा ॥
आव कटक सुलतानी, गगन छपा मसि माँझ।
परति आव जग कारी, होति आव दिन साँझ ॥७॥
फिरि आगे गोरा तब हाँका। खेलौं, करौं आजु रन साका ॥
हौं कहिए धौलागिरि गोरा। टरौं न टारे, अंग न मोरा ॥
सोहिल जैस गगन उपराहीं। मेघ-घटा मोहि देखि बिलाहीं ॥
सहसौ सीस सेस सम लेखौं। सहसौ नैन इंद्र सम देखौं ॥
चारिउ भुजा चतुरभुज आजू। कंस न रहा और को साजू ?
हौं होइ भीम आजु रन गाजा। पाछे घालि डुंगवै राजा ॥
होइ हनुवँत जमकातर ढाहौं। आजु स्वामि साँकरे निबाहौं ॥

होइ नल नील आजु हौं देहुँ समुद महँ मेंड़।
कटक साह कर टेकौं होइ सुमेरु रन बेंड़ ॥८॥

ओनई घटा चहूँ दिसि आई। छूटहि वान मेघ-झरि लाई ॥
डोलै नाहि देव जस आदी। पहुँचे आइ तुरुक सब वादी ॥
हाथन्ह गहे खड़ग हरद्वानी। चमकहि सेल बीजु कै वानी ॥
सोझ वान जस आवहिं गाजा। वासुकि डरै सीस जनु बाजा ॥
नेजा उठे डरै मन इन्दू। आइ न वाज जानि कै हिन्दू ॥
गोरै साथ लीन्ह सव साथी। जस ममत सूंड विनु हाथी ॥
सव मिलि पहिलि उठौनी कीन्हीं। आवत आइ हाँक रन दीन्हीं ॥

रुंड मुंड अव टूटहिं स्यो बखतर औ कूंड।
तुरय होहिं विनु काँधे, हस्ति होहिं बिनु सूंड़ ॥९॥

ओनवत आइ सेन सुलतानी। जानहुं परलय आव तुलानी ॥
लोहे सेन सूझ सब कारी। तिल एक कहूं न सूझ उघारी ॥
खड़ग फौलाद तुरुक सब काढ़े। धरे बीजु अस चमकहिं ठाढ़े ॥
पीलवान गज पेले बाँके। जानहुं काल करहिं दुइ फाँके ॥
जनु जमकात करहिं सब भवाँ। जिउ लेइ चहहिं सरग अपसवाँ ॥
सेल सरप जनु चाहहिं डसा। लेहिं काढ़ि जिउ मुख विष-बसा ॥
तिन्ह सामुहँ गोरा रन कोपा। अंगद सरिस पाँव भुइं रोपा ॥

सुपुरुष भागि न जानै, भुइं जौ फिरि फिरि लेइ ॥
सूर गहे दोऊ कर स्वामि-काज जिउ देइ ॥१०॥

भइ बगमेल, सेल घन घोरा। औ गज-पेल अकेल सो गोरा ॥
सहस कुंवर, सहसौ सत बाँधा। भार-पहार जूझ कर काँधा ॥
लगे मरै गोरा के आगे। वाग न मोर घाव मुख लागे ॥
जैस पतंग आगि धँसि लेई। एक मुवै, दूसर जिउ देई ॥
टूटहिं सीस, अधर धर मारै। लोटहिं कंधहिं कंध निरारै ॥

कोई परहिं रूहिर होइ राते। कोईं घायल घूमहिं माते।।
कोइ खुरखेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाइ परे होइ जोगी।।

घरी एक भारत भा, भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुंवर सब निबरे, गोरा रहा अकेल।।११।।

गोरै देख साथि सब जूझा। आपन काल नियर भा, बूझा।।
कोपि सिंघ सामूहँ रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मरै अकेला।।
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसे पवन बिदारै घटा।।
जेहि सिर देइ कोपि करवारू। स्यो घोड़े टूटै असवारू।।
लोटहिं सीस कबंध निनारे। माँठ मँजीठ जनहुँ रन ढारे।।
खेलि फाग सेंदुर छिरकावा। चाँचरि खेलि आगि जनु लावा।।
हस्ती घोड़ धाइ जो धूका। ताहि कीन्ह सो रुहिर भमूका।।

भइ अज्ञा सुलतानी, "बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगे लिए पदारथ साथ"।।१२।।

सबै कटक मिलि गोरहि छेका। गूँजत सिंह जाइ नहिं टेका।।
जेहि दिसि उठै सोइ जनु खावा। पलटि सिंघ तेहि ठावँ न आवा।।
तुरुक बोलावहिं बोलै बाहाँ। गोरै मीचु धरी जिउ माहाँ।।
मुए पुनि जूझि जाज, जगदेऊ। जियत न रहा जगत महँ केऊ।।
जिनि जानहु गोरा सो अकेला। सिंघ के मोंछ हाथ को मेला ?
सिंघ जियत नहिं आपु धरावा। मुए पाछ कोईं घिसियावा।।
करै सिंघ मुख-सौंहहिं दीठी। जो लगि जियै देइ नहिं पीठी।।

रतन सेन जो बाँधा, मसि गोरा के गात।
जौ लगि रुहिर न धोवौं तौ लगि होइ न रात।।१३।।

सरजा बीर सिंघ चढ़ि गाजा । आइ सौंह गोरा सौं बाजा ।।
पहलवान सो बखाना बली । मदद मीर हमजा औ अली ।।
लँधउर धरा देव जस आदी । और को बर बाँधै, को बादी ?
मदद अयूब सीस चढ़ि कोपे । महामाल जेइ नाँव अलोपे ।।
ओ तायाँ सालार सो आए । जेइ कौरव पंडव पिंड पाए ।।
पहुँचा आइ सिंह असवारू । जहाँ सिंघ गोरा बरियारू ।।
मारेसि साँग पेट महँ धँसी । काढ़ेसि हुमुकि आँति भुइँ खसी ।।

भाँट कहा, धनि गोरा ! तूँ भा रावन राव ।
आँति समेटि बाँधि कै तुरय देत है पाव ।।१४।।

कहेसि अन्त अब भा भुइँ परना । अन्त त खसे खेह सिर भरना ।।
कहि कै गरजि सिंघ अस धावा । सरजा सारदूल पहँ आवा ।।
सरजै लीन्ह साँग पर घाऊ । परा खड़ग जनु परा निहाऊ ।।
बज्र क साँग, बज्र कै डाँड़ा । उठी आगि तस बाजा खाँड़ा ।।
जानहु बज्र बज्र सौं बाजा । सब ही कहा परी अब गाजा ।।
दूसर खड़ग कंध पर दीन्हा । सरजै ओहि ओड़न पर लीन्हा ।।
तीसर खड़ग कूँड़ पर लावा । काँध गुरुज हुत, घाव न आवा ।।

तस मारा हठि गोरै, उठी बज्र कै आगि ।
कोइ नियरै नहिं आवै, सिंघ सदूरहि लागि ।।१५।।

तब सरजा कोपा बरिबंडा । जनहु सदूर केर भुजदंडा ।।
कोपि गरुजि मारेसि तस बाजा । जानहु परी टूटि सिर गाजा ।।
ठाँठर टूट, फूट सिर तासू । स्यो सुमेरु जनु टूट अकासू ।।
धमकि उठा सब सरग पतारू । फिरि गइ दीठि, फिरा संसारू ।।
भइ परलय अस सबही जाना । काढ़ा खड़ग सरग नियराना ।।

तस मारेसि स्यो घोड़ै काटा । धरती फाटि, सेस-फन फाटा ।।
जौ अति सिंह बरी होइ आईं । सारदूल सौं कौनि बड़ाई ।।
गोरा परा खेत महँ,(सुर) पहुँचावा (पान ।)
बादल लेइगा राजा, लेइ चितउर नियरान ।।१६।।

('पदमावत' से)

सूरदास

भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास जी का जन्म दिल्ली के निकट सीहीं ग्राम में १४७८ ई० में हुआ। युवा होने पर वे मथुरा के निकट गऊघाट पर आकर रहने लगे। १५१० ई० के आसपास वे पुष्टिमार्ग के संस्थापक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी से दीक्षा लेकर उनके सम्प्रदाय में आए तथा गोवर्धन-स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर की कीर्तन-सेवा में नियुक्त हुए। महाप्रभु के आदेश से वे दैन्य-सूचक पदों की रचना से विरत होकर कीर्तन के लिए लीला-संबंधी पदों को रचना में संलग्न हुए। फलस्वरूप मुक्तक पदों के उस विशाल सागर का निर्माण हुआ जिसका जोड़ हिन्दी तो क्या, संसार की किसी भी भाषा में मिलना कठिन है। १५८३ ई० में गोवर्धन के निकट ही परासोली नामक ग्राम में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी तथा अन्य अनेक विशिष्ट वैष्णवों की उपस्थिति में उन्होंने शान्ति-पूर्ण चित्त से अपना शरीर छोड़ा।

ब्रजभाषा को हिन्दी की सर्वमान्य काव्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय अंधे कवि सूरदास को ही है। 'सूरसागर' यद्यपि ब्रजभाषा की प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति है, किन्तु उसकी प्रौढ़ता को कोई परवर्ती रचना भी नहीं पहुँच सकी। विनय के पदों में कृष्ण के सखा सूरदास ने अपना निश्छल एवं निष्कपट हृदय खोलकर रख दिया है। कृष्ण की बाल-लीला के वर्णन में जिस सूक्ष्म-निरीक्षण-गर्भित स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं, वह इतने विवृत रूप में अन्यत्र अप्राप्य है। बाल-मनोविज्ञान का इतना गंभीर अध्ययन करने का अवसर सूर को कब और कैसे प्राप्त हुआ, यह आलोचकों के लिए कभी न सुलझ सकने वाली पहेली है। शृंगार रस के

तो सूर सम्राट् ही हैं। यद्यपि इस रस में लिखने वालों की संख्या अपरिमित है, किन्तु सूर से स्पर्धा करने का साहस किसमें हो सकता है ? श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों क्षेत्रों में सूर का समान रूप से अबाध अधिकार है। एक ओर श्रीमद्भागवत की सीमा का अतिक्रमण करके यदि उन्होंने अनेक नवीन कथाप्रसंगों की उद्भावना की है, तो दूसरी ओर वे अनुभावों एवं संचारियों के कथन में, नायक-नायिकाओं के भेद-प्रभेदों के उल्लेख में तथा प्रेम-संबंधी परिस्थितियों के चित्रण में साहित्य-शास्त्र की परम्परागत परिधि को पीछे छोड़कर बहुत आगे बढ़ गए हैं। 'भ्रमरगीत' के प्रसंग में जिस विदग्धता-पूर्ण वाग्वैचित्र्य की सृष्टि सूरदास ने की है उसका अनुकरण बड़े-बड़े कवियों ने किया है। सूरदास की राधा—प्रेम की सजीव प्रतिमा—एक अद्भुत कल्पना है, एक अद्वितीय सृष्टि है।

सूर और तुलसी में किसी को छोटा अथवा बड़ा कहना सहृदय आलोचक के लिए कठिन ही नहीं, असंभव है। यदि सूर-साहित्य में लोक-कल्याण की अपेक्षा लोक-रंजन का पक्ष अधिक प्रबल है तो तुलसी-साहित्य में लोक-रंजन की अपेक्षा लोक-कल्याण का। भक्ति भावना की धारा से तो दोनों ही समान रूप से आप्लावित हैं।

विनय

— १ —

चरन कमल वन्दौं हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौ सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, वार बार बंदौ तिहिं पाइ॥

— २ —

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगै मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप रेख गुन-जाति जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं तातै सूर सगुन पद गावै॥

— ३ —

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं कै हमहीं, माधौ, अपने भरोसै लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ, पतिते ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यो चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिन करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
सूर पतित तबहीं उठिहै, प्रभु जब हँसि दैहौ बीरा॥

— ४ —

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा - सब्द - रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बांध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल॥

— ५ —

प्रभु मेरे, मोसौं पतित उधारौं।
कामी, कृपिन, कुटिल, अपराधी, अघनि भर्‌यो बहु भारो।
तीनो पन मैं भक्ति न कीन्हीं, काजर हूँ तैं कारो।
अब आयौ हौं सरन तिहारी, ज्यों जानौ त्यौं तारौ।
गीध-व्याध-गज गनिका उधरी, लै लै नाम तिहारौ।
सूरदास प्रभु कृपावंत ह्वै, लै भक्तनि मैं डारौ॥

— ६ —

हमारे प्रभु, औगुन चित्त न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ।
इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलौ नीर भरौ।
जब मिलि गए तब एक बरन ह्वै, गंगा नाम परौ।
तन माया, ज्यौ ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ।
कै इनकौ निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ॥

"बाललीला"

— ७ —

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहिं पिए।
कठुला-कंठ, वज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए॥

— ८ —

सखि री, नंद नंदन देखु।
धूरि-धूसर जटा जुटली, हरि किए हर भेषु।
नील पाट पिरोइ मनि-गन, फनिग धोखैं जाइ।
खुनखुना कर हँसत हरि, हर नचत डमरु बजाइ।
जलज-माल गुपाल पहिरैं, कहा कहौं बनाइ।
मुंडमाला मनौ हर-गर, ऐसी सोभा पाइ।
स्वाति-सुत माला विराजत स्याम तन इहिं भाइ।
मनौ गंगा गौरि-डर हर लई कंठ लगाइ।
केहरी-नख निरखि हिरदै, रहीं नारि बिचारि।
बाल-ससि मनु भाल तैं लै, उर धर्यौ त्रिपुरारि।
देखि अंग अनंग झझक्यौ, नंद-सुत हर जान।
सूर के हिरदै बसौ नित, स्याम-सिव कौ ध्यान॥

— ९ —

कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जैसै देखि और ब्रज बालक, त्यौं बल-बैस चढ़ै।

यह सुनि के हरि पीवन लागे, ज्यौं त्यौं लयौ लढ़ै।
अँचवत पय तातौ जब लाग्यौ, रोवत जीभि डढ़ै।
पुनि पीवत हीं कच टकटोरत, झूँठहिं जननि रढ़ै।
सूर निरखि मुख हँसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै।

– १० –

मैया, मैं तौ चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वै हौं पूत नंद बाबा को, तेरौ सुत न कहैहौं।
आगैं आउ, बात सुनि मेरी, बलदेवहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।
तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमंगल गैहौं॥

– ११ –

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ।
कहा करौं इहिं रिस के मारें, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोहीं कौ मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि-सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

— १२ —

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-विनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायो।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिवविरंचि नहिं पायौ॥

— १३ —

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइ पिराइ।
जौ न पत्याहि पूछि बलदाऊहिं, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालिन, गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक मारत ताहि रिंगाइ॥

संयोग

— १४ —

मुरली तऊ गुपालहिं भावति।
सुनि री सखि जदपि नंदलालहिं, नाना भाँति नचावति।
राखति एक पाइ ठाढ़ौ करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आज्ञा करवावति, कटि टेढ़ी ह्वै आवति।
अति आधीन सुजान कनौड़े, गिरिधर नार नवावति।

आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर-पल्लव पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, नैंत नासा-पुट, हम पर कोप करावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन, धर तैं सीस डुलावति।।

– १५ –

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी।
काहे कौं हम ब्रज-तन आवति, खेलति रहतिं आपनी पोरी।
सुनत रहतिं स्रवननि नंद ढोटा, करत फिरत माखन-दधि चोरी।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लेहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास, प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातिनि भुरइ राधिका भोरी।।

– १६ –

जसुमति राधा कुँवरि सँवारति।
बड़े बार सीमंत सीस के, प्रेम सहित निरुवारति।।
माँग पारि बेनी जु सँवारति, गूँथी सुंदर भाँति।
गोरैं भाल बिंदु बंदन, मनु, इंदु प्रात-रवि कांति।।
सारी चीरि नई फरिया लै, अपने हाथ बनाइ।
अंचल सौं मुख पोंछि अंग सब, आपुहिं लै पहिराइ।।
तिल चाँवरी, बतासे, मेवा, दियौ कुँवरि की गोद
सूर स्याम राधा-तनु चितवत, जसुमति मन-मन मोद।।

– १७ –

सुंदर स्याम पिया की जोरी।
सखी गाँठि दै मुदित राधिका, रसिक हँसी मुख मोरी।।
वै मधुकर ये कंज कली, वै चतुर एउ नहिं भोरी।
प्रीति परस्पर करि दोऊ सुख, बात जतन की जोरी।।

वृन्दावन वै सिसु तमाल ये कनक-लता सी गोरी।
सूर किसोर नवल नागर ये, नागरि नवल किसोरी।।

वियोग

— १८ —

मधुबन तुम क्यों रहत हरे।
बिरह बियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे।।
मोहन बेनु बजावत तुम तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे।।
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिरि पुहुप धरे।
सूर दास प्रभु बिरह दवानल, नख सिख लौं न जरे।।

— १९ —

निसि दिन बरषत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे।।
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे।।
आँसू-सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे।
सूरदास प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहैं बिसारे।।

— २० —

ऊधौ बेगिहीं ब्रज जाहु।
स्रुति संदेस सुनाइ मेटौ, बल्लभिनि कौ दाहु।।
काम पावक, तूल तन मैं, बिरह स्वास समीर।
जरि भसम नहिं होन पावैं, लोचननि के नीर।।
आजु लौं इहि भाँति हैं वै कछुक सजग, सरीर।

इत पर बिनु समाधानहिं, क्यों धरैं तिय धीर।।
बार-बार कहा कहौं, तुम सखा साधु प्रवीन।
सूर सुमति बिचारिऐ, जिहिं जिऐं जल बिनु मीन।।

– २१ –

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ।
हम आंवेंगे दोऊ भैया, मैया जनि अकुलाइ।।
याकौ बिलग बहुत हम मान्यौ, जो कहि पठयौ धाइ।
वह गुन हमकौं कहा बिसरिहै, बड़े किए पय प्याइ।।
अरु जब मिल्यौ नंद बाबा सौं, तब कहियो समुझाइ।
तौलौं दुखी होन नहिं पावैं, धोरी धूमरि गाइ।।
जद्यपि इहाँ अनेक भाँति सुख, तदपि रहयौ नहिं जाइ।
सूरदास देखौं ब्रजवासिनि, तबहीं हियौ सिराइ।।

– २२ –

सुनौ गोपी हरि कौ संदेस ।
करि समाधि अंतर-गति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेश।।
वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ।
तत्त्वज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, बेद पुराननि गाइ।।
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित्त इक मन लाइ।
वह उपाइ करि बिरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ।।
दुसह संदेस सुनत माधौ कौ, गोपी जन बिलखानी।
सूर बिरह की कौन चलावै, बूड़ति मनु बिनु पानी।।

– २३ –

मधुकर हम अजान मति भोरी।
यह मत जाइ तहाँ उपदेसौ, नागरि नवल किसोरी।

कंचन कौ मृग कौनैं देख्यौ, किन वाँध्यौ गृहि डोरी।
कहि धौ मधुप वारि तैं माखन, कौनै भरी क़मोरी।।
विनु हीं भीत चित्र किन कीन्हौ, किन नभ घाल्यौ झोरी।
कहौ कौन पै कढ़त कनूका, जिन हठि भूसी पछोरी।।
निरगुन ज्ञान तुम्हारौ ऊधौ, हम अवला मति थोरी।
चाहति सूर स्याम मुख चँदहिं, अखियाँ तृषित चकोरी।।

— २४ —

निरगुन कौन देस कौ बासी?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दे, बूझति साँच न हाँसी।।
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी?
कैसे बरन, भेष है कैसौ, किहिं रस मैं अभिलाषी?
पावैगौ पुनि कियौ अपनौ, जो रे करैगौ गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ बावरौ, सूर सबै मति नासी।।

— २५ —

मुक्ति आनि मंदे मैं मेली।
समुझि सगुन लै चले न ऊधौ, यह तुम पै सब पुँजी अकेली।।
कै लै जाहु अनंत ही बेंचौ, कै लै राखु जहाँ विष बेली।
याहि लागि को मरै हमारैं, बृंदावन चरननि सौं ठेली।।
धरे सीस घर-घर डोलत हो, एकै मति सब भईं सहेली।
सूरदास गिरिधरन छबीलौ, जिनकी भुजा कंठ धरि खेली।।

— २६ —

इहिं उर माखन चोर गड़े।
अब कैसे निकसत सुनि ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े।।
जदपि अहीर जसोदा-नंदन, कैसैं जात छँड़े।

ह्वाँ जादौपति प्रभु कहियत हैं, हमैं न लगत बड़े ।।
को वसुदेव-देवकी नंदन, को जानै को बूझै।
सूर नंदनंदन के देखत और न कोऊ सूझै ।।

— २७ —

ऊधौ तुम हौ अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेह तगा तैं, नाहिन मन अनुरागी ।।
पुरइनि पात रहत जल भीतर, ता रस देह न दागी।
ज्यौं जल माहँ तेल की गागरि, बूँद न ताकौ लागी ।।
प्रीति नदी मैं पाउँ न बोर्यौ, दृष्टि न रूप परागी।
सूरदास अबला हम भोरी, गुर चींटी ज्यों पागी ।।

— २८ —

कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात ।।
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुग बर, हर-रिपु कीन्हौं घात
मघ पंचक लै गयौ साँवरौ, तातै अति अकुलात ।।
नखत, बेद, ग्रह, जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।
सूरदास बस भईं बिरह के, कर मीजैं पछितात ।।

— २९ —

हमारैं हरि हारिल की लकरी।
मन क्रम बचन नंद-नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी ।।
जागत सोवत स्वप्न दिवस-निसि, कान्ह कान्ह जकरी।
सुनत जोग लागत है ऐसो, ज्यौं करुई ककरी ।।
सु तौ ब्याधि हमकौं लै आए देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपौ, जिनके मन चकरी ।।

— ३० —

बिनु गुपाल बैरिनि भई कुंजै।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पूंजैं।।
वृथा वहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल-फूलनि अलि-गुंजै।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भईं भुंजै।।
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजै।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग-जोवत अँखियाँ भईं छुंजै।।

— ३१ —

रुकमिनि मोहिं ब्रज विसरत नाहीं।
वह क्रीड़ा वह केलि जमुनतट, सघन कदम की छाहीं।।
गोप बधुनि की भुजा कंध धरि, विहरत कुंजनि माहीं।
और बिनोद कहाँ लगि बरनौं, बरनत वरनि न जाहीं।।
जद्यपि सुख निधान द्वारावति, गोकुल के सम नाहीं।
सूरदास घन-स्याम मनोहर, सुमिरि-सुमिरि पछिताहीं।।

कुरुक्षेत्र में मिलन

— ३२ —

बूझति है रुकुमिनि पिय इनमें को वृषभानु किसोरी।
नैकु हमैं दिखरावहु अपनी वाला-पन की जोरी।।
परम चतुर जिन कीन्हे मोहन, अल्प बैस ही थोरी।
बारे तैं जिहिं यहै पढ़ायौ, बुधि बल कल बिधि चोरी।।
जाके गुन गनि ग्रंथित-माला, कबहुं न उर तैं छोरी।
मनसा सुमरिन, रूप ध्यान उर, दृष्टि न इत-उत मोरी।।
वह लखि, जुवति वृंद मै ठाढ़ी, नील वसन तन गोरी।
सूरदास मेरो मन वाकी, चितवनि बंक हर्‌यौ री।।

– ३३ –

रुकमिनि राधा ऐसैं भेंटी।
जैसैं बहुत दिननि की बिछुरी, एक बाप की बेटी॥
एक सुभाव एक वय दोऊ, दोऊ हरि कौं प्यारी।
एक प्रान मन एक दुहुनि को, तन करि दीसति न्यारी॥
निज मंदिर लै गईं रुकमिनी, पहुनाई बिधि ठानी।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे, जहँ दोऊ ठकुरानी॥

– ३४ –

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रँग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज-बिहार नित नई-नई॥

('सूरसागर' से)

तुलसीदास

हिन्दी-साहित्याकाश के सूर्य गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म १५३२ ई० में राजापुर के एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ। तुलसीदास जी वचपन से ही अपने माता-पिता के आश्रय से वंचित होकर अनाथ वालक के रूप में इधर-उधर भटकते फिरे। इस काल में अपमान और कष्ट से पूर्ण जीवन का करुण चित्र कवि ने 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' में स्वयं खींचा है। किन्तु सौभाग्य से शीघ्र ही किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अवतरित इस महापुरुष को मनुष्य वेश में मानों स्वयं भगवान् ही गुरु के रूप में प्राप्त हुए। फिर क्या था! रामकथा के सागर में डुबकियाँ लगाकर इस महाकवि ने एक-से-एक मूल्यवान-रत्न प्रकट किए जिन्हें पाकर भारतीय जनता धन्य हो गई। चित्रकूट, अयोध्या और काशी कवि के प्रमुख लीला-क्षेत्र थे। १६२३ ई० में काशी में ही उनकी इहलीला का संवरण हुआ।

तुलसीदास जी अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे। अपने समय में प्रचलित समस्त काव्य-शैलियों तथा काव्य-भाषाओं को उन्होंने राम-मय किया। छप्पय, कवित्त, सवैया, साखी (दोहा), बरवै, गीत और दोहा-चौपाई, तथा अवधी और ब्रज—इन सभी छन्दों तथा भाषाओं में उनके ग्रन्थ मिलते हैं। रामचरित जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों का समुद्र है। तुलसीदास जी ने अपने विभिन्न शैलियों के ग्रन्थों में उनके अनुरूप भावनाओं एवं परिस्थितियों का विशद चित्रांकन किया है। उदाहरणार्थ 'गीतावली' में कोमल एवं करुण भावनाओं का, 'कवितावली' में पुरुष

भावनाओं का तथा 'वरवै रामायण' में श्रृंगारमयी कलापूर्ण उक्तियों का विशेष उत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

तुलसीदास जी काव्य-शास्त्र के भी पूर्ण पंडित थे। किन्तु अपने इस ज्ञान का उपयोग उन्होंने अवसर की आवश्यकता के अनुकूल ही किया है। उनका मुख्य लक्ष्य तो सामाजिक और पारिवारिक जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करना था। जीवन की भावुकतापूर्ण परिस्थितियों की उनको अद्‌भुत पहचान थी, और उनका मार्मिक एवं प्रभावशाली चित्रण करने के लिए अप्रतिम काव्य-प्रतिभा उन्हें नियति से प्राप्त थी। उनकी अनुभूति में जितनी व्यापकता है उतनी गहराई भी। उन्होंने जिन श्रेष्ठ एवं आदर्श चरित्रों का निर्माण किया है वे सुदृढ़ प्रकाश-स्तंभ के रूप में युग-युग तक मानव-जाति के लिए मार्ग-दर्शक का कार्य करेंगे।

गोस्वामी जी वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा के मानने वाले थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में वे सबको बराबर समझते थे। ज्ञानमार्ग से उनका कोई विरोध नहीं था, किन्तु भक्ति-मार्ग को माया के आकर्षण से सुरक्षित समझने के कारण वे अधिक उत्तम मानते थे। राम और शिव को एक-दूसरे का भक्त कहकर उन्होंने वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों के विरोध को दूर करने की चेष्टा की थी। भारतीय ज्ञान की परम्परा में जो कुछ भी श्रेष्ठ था उसे लोक के कल्याण के लिए इस महा-मानव ने काव्य की मनोरम मंजूषा में संचित करके रख दिया है।

विनय

— १ —

गाइए गनपति जगवंदन । संकरसुवनभवानी नंदन ॥
सिद्धिसदन गजबदन विनायक । कृपासिंधु सुंदर सब लायक ॥
मोदकप्रिय मुद-मंगल दाता । विद्यावारिधि बुद्धि-विधाता ॥
माँगत तुलसिदास कर जोरे । बसहिं रामसिय मानस मोरे ॥

— २ —

बावरो रावरो नाह, भवानी ।
दानि बड़ो, दिन, देत दए बिनु, बेद-बड़ाई भानी ॥
निज घर की घरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी ।
सिव की दई संपदा देखत श्री सारदा सिहानी ॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी ।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयों नकबानी ॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिए औरहिं, भीख भली मैं जानी ॥
प्रेम-प्रसंसा-विनय-व्यंग-जुत सुनि विधि की बर बानी॥
तुलसी मुदित महेस, मनहिं मन जगतमातु मुसुकानी ॥

— ३ —

जाके गति है श्री हनुमान की ।
ताकी पैज पूजि आई यह रेखा कुलिस पषान की ॥
अघटित-घटन, सुघट-बिघटन, ऐसी बिरुदावलि नहिं आन की ।
सुमिरत संकट-सोच विमोचन मूरति मोदनिधान की ।
तुलसी कपि की कृपा-बिलोकनि खानि सकल कल्यान की ॥

कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरिओ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ॥
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥
बूझिहैं 'सो है कौन?' कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥
जानकी जगजननि जन की किए बचन-सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुनगन गाइ॥

—५—

काहे तें हरि मोहिं बिसारो।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो॥
पतितपुनीत दीनहित असरन-सरन कहत श्रुति चारो।
हौं नहिं अधम सभीत दीन? किधौं बेदन मृषा पुकारो?
खग-गनिका-गज-ब्याध-पाँति जहँ तहँ हौं हूँ बैठारो।
अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो टारो॥
जो कलिकाल प्रबल अति होतो तुव निदेस तें न्यारो॥
तौ हरि रोस भरोस दोस गुन तेहिं भजते तजि गारो॥
मसक बिरंचि, बिरंचि मसक सम करहु प्रभाव तुम्हारो।
यह सामर्थ्य अछत मोहिं त्यागहु, नाथ तहाँ कछु चारो॥
नाहिन नरक परत मोकहँ डर जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु नामहुँ पाप न जारो॥

— ६ —

अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहों ।
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर-कर तें न खसैहों ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहों ।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहों ।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पदकमल बसैहों ।।
('विनय-पत्रिका' से)

बाल-लीला

— १ —

पगनि कब चलिहौ चारो भैया ?
प्रेम-पुलकि उर लाइ सुवन सब कहति सुमित्रा मैया ।।
सुंदर तनु सिसु-बसन-बिभूषन नखसिख निरखि निकैया ।
दलि तृन, प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया ।।
किलकनि नटनि चलनि चितवनि भजि मिलनि मनोहरतैया ।
मनि-खंभनि प्रतिबिंब-झलक, छबि छलकिहै भरि अँगनैया ।।
बाल बिनोद, मोद मंजुल बिधु, लीला ललित जुन्हैया ।
भूपति पुन्य-पयोधि उमँग, घर घर आनंद बधैया ।।
ह्वै हैं सकल सुकृत-सुख-भाजन-लोचन, लाहु लुटैया ।
अनायास पाइहैं जनमफल तोतरे वचन सुनैया ।।
भरत, राम, रिपुदवन, लषन के चरित-सरित अन्हवैया ।
तुलसी तब के से अजहुं जानिबे रघुवर-नगर बसैया ।।

–२–

आँगन खेलत आनँदकंद।
रघुकुल कुमुद सुखद चारु चंद।
सानुज भरत लषन संग सोहैं'
सिसु-भूषन भूषित मन मोहैं॥

तन दुति मोरचंद जिमि झलकैं।
मनहु उमँगिअँग अँग छबि छलकैं॥
कटि किंकिन, पग पैंजनि बाजैं।
पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं॥

कठुला कंठ बघनहा नीके।
नयन सरोज मयन-सरसी के॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं।
दमकति द्वै द्वै दँतुरियाँ रूरीं॥
मुनि-मन हरत मंजु मसि-बुंदा।
ललित वदन, बलि, बालमुकुंदा॥

कुलही चित्र-बिचित्र झँगूलीं।
निरखत मातु मुदित मन फूलीं॥
गहि मनि-खंभ डिंभ डगि डोलत।
कलबल बचन तोतरे बोलत॥

किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि।
देत परम सुख पितु अरु अंबनि॥
सुमिरत सुखमा हिम हुलसी है।
गावत प्रेम पुलकि तुलसी है॥

— ३ —

विहरत अवध-बीथिन राम।
संग अनुज अनेक सिसु नव-नील-नीरद-स्याम॥
तरुन अरुन-सरोज-पद वनी कनकमय पदत्रान।
पीत पट कटि तून बर, कर ललित लघु धनु वान॥
लोचननि को लहत फल छवि निरखि पुर-नर-नारि।
बसत तुलसीदास उर अवधेस के सुत चारि॥

धनुभंग

— ४ —

राम कामरिपु-चाप चढ़ायो।
मुनिहिं पुलक, आनंद नगर, नभ निरखि निसान बजायो॥
जेहि पिनाक विनु नाक किए नृप, सबहिं बिषाद बढ़ायो।
सोइ प्रभु कर परसत टूटचो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो॥
पहिराईं जयमाल जानकी जुवतिन्ह मंगल गायो।
तुलसी सुमन बरिष हरषे सुर, सुजस तिहूँ पुर छायो॥

— ५ —

लाज तोरि, साजि साज़ राजा राढ़ रोषे हैं।
कहा भौ चढ़ाए चाप, ब्याह ह्वै है वड़े खाए।
बोलैं खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं॥
जाति पुरजन त्रसे धीर दै लषन हँसे,
बल इको पिनाक नीके नापे जोखे हैं।
कुलहिं लजावैं बाल, बालिस बजावैं गाल,
कैधौं कूर काल बस तमकि त्रिदोषे हैं॥

कुँवर चढ़ाईं भौहैं, अब को विलोकै सोहैं,
जहँ तहँ भे अचेत, खेत के से धोखे हैं।
देख नर-नारि कहैं, साग खाइ जाए माइ,
बाहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं॥
प्रमुदित - मन लोक - कोकनद ' कोकगन,
राम के प्रताप - रवि सोच - सर सोखे हैं।
तब के देखैया तोषे, तब के लोगनि भले,
अब के सुनैया साधु तुलसिहु तोषे हैं॥

— ६ —

जब तें लै मुनि संग सिधाए।
राम लषन के समाचार, सखि तब तें कछुअ न पाए॥
विनु पानही गमन, फल भोजन, भूमि सयन तरुछाहीं।
सर-सरिता जलपान, सिसुन के संग सुसेवक नाहीं॥
कौसिक परम कृपालु, परमहित समरथ, सुखद, सुचाली।
बालक सुठि सुकुमार सकोची, समुझि सोच मोहिं, आली॥
बचन सप्रेम सुमित्रा के सुनि सब सनेह-वस रानी॥
तुलसी आइ भरत तेहि औसर कही सुमंगल बानी॥
('गीतावली' से)

सीता का स्वरूप-वर्णन

कस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥१॥
सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि! कोमल, कनक कठोर॥२॥

सियमुख सरदकमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह विगसाइ ॥३॥
चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जव कुँभिलाइ ॥४॥

('बरवै रामायण' से)

भरद्वाज मुनि के आश्रम में भरत

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रवेसु प्रयाग।
कहत रामसिय रामसिय उमगि उमगि अनुराग ॥१॥
झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे॥
भरत पयादेहिं आए आजू। भयउ दुखित सुनि सकल समाजू॥
खवरि लीन्ह सब लोग नहाए। कीन्ह प्रनामु त्रिबेनिहिं आए॥
सविधि सितासित नीर नहाने। दिए दान महिसुर सनमाने॥
देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥
सकल काम प्रद तीरथराऊ। बेद विदित जग प्रगट प्रभाऊ॥
मागऊँ भीखत्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू॥
अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफलकरहिं जग जाचक बानी॥
अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन ॥२॥
जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदित वढ़उ अनुग्रह तोरें॥
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पवि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाईं। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाईं॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निवाहें॥
भरत बचन सुनि माझ त्रिबेनी। भइ मृदु बानि सुमंगल देनी॥

तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू ॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं।

तनु पुलकेउ हिय हरषु सुनि बेनि बचन अनुकूल।
भरत धन्य कहि धन्य सुर हरषित बरषहिं फूल ॥३॥

प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी ॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा। भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा ॥
सुनत राम गुन ग्राम सुहाए। भरद्वाज मुनिबर पहिं आए ॥
दंड प्रनामु करत मुनि देखे। मूरतिमंत भाग्य निज लेखे ॥
धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हे। दीन्ह असीस कृतारथ कीन्हे ॥
आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे ॥
मुनि पूँछब कछु यह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सीलु सँकोचू ॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई ॥

तुम्ह गलानि जिय जनि करहु समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति ॥४॥

यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोकु बेदु बुध संमत दोऊ ॥
तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकउ बेदु बड़ाई ॥
लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजू सो लहई ॥
राउ सत्यव्रत तुम्हहि बोलाई। देत राजु सुखु धरमु बड़ाई ॥
राम गवनु बन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला ॥
सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहुँ पछितानी ॥
तहँउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहै सो अधम अयान असाधू ॥
करतेहु राजु तुम्हहि नहिं दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू ॥

अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु ॥
सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु ॥५॥

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना ॥
यह तुम्हार आचरजु न ताता। दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता ॥
सुनहु भरत रघुवर मन माहीं। प्रेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥
लखन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती ॥
जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरें अनुरागा ॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुवर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के ॥
यह न अधिक रघुवीर बड़ाई। प्रनत कुटुंब पाल रघुराई ॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहु ॥

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु ॥६॥

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुवर किंकर कुमुद चकोरा ॥
उदित सदा अथइहि कबहूँना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना ॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रताप रवि छविहि न हरिही ॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू ॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा ॥
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ ॥
भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल सुमंगल खानी ॥
दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं ॥

जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ ॥७॥

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम प्रेम मृगरूपा ॥
तात गलानि करहु जियँ जाएँ। डरहु दरिद्रहि पारसु पाएँ ॥
सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं ॥

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥
भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनिभयऊ॥
सुनि मुनि वचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर वरषे॥
धन्य धन्य धुनि गगन पयागा। सुनि सुनि भरतु मगन अनुरागा॥

पुलक गात हियँ रामु सिय सजल सरोरुह नैन।
करि प्रनामु मुनि मंडलिहि बोले गदगद बैन॥८॥

मुनि समाजु अरु तीरथराजू। साँचिहुँ सपथ अघाइ अकाजू॥
एहिं थल जौं किछु कहिअ बनाई। एहि सम अधिक न अघ अधमाई॥
तुम्ह सर्वग्य कहउँ सतिभाऊ। उर अंतरजामी रघुराऊ॥
मोहि न मातु करतव कर सोचू। नहिं दुखु जियँ जगु जानिहि पोचू॥
नाहिन डरु बिगरिहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू॥
सुकृत सुजस भरि भुअन सुहाए। लछिमन राम सरिस सुत पाए॥
राम बिरहँ तजि तनु छनभंगू। भूप सोच कर कवन प्रसंगू॥
राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि वेष फिरहिं बन बनहीं॥

अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥९॥

एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥
एहि कुरोग कर औषधु नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥
मातु कुमत बढ़ई अघ मूला। तेहिं हमार हित कीन्ह बँसूला॥
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥
मोहि लगि यहु कुठाटु तेहिं ठाटा। घालेसि सब जगु बारहबाटा॥
मिटइ कुजोग राम फिरि आएँ। बसइ अवध नहिं आन उपाएँ॥

भरत वचन सुनि मुनि सुखु पाईं। सबहिं कीन्ह बहु भाँति बड़ाईं॥
तात करहु जनि सोचु विसेषी। सब दुखु मिटिहि राम पग देखी॥

करि प्रबोधु मुनिवर कहेउ अतिथि प्रेमप्रिय होहु।
कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि छोहु॥१०॥

सुनि मुनि बचन भरत हिय सोचू। भयउ कुअवसर कठिन सँकोचू॥
जानि गरुइ गुर गिरा बहोरी। चरन बंदि बोले कर जोरी॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यहु नाथ हमारा॥
भरत बचन मुनिवर मन भाए। सुचि सेवक सिष निकट बोलाए॥
चाहिअ कीन्हि भरत पहुनाईं। कंद मूल फल आनहु जाईं॥
भलेंहि नाथ कहि तिन्ह सिर नाए। प्रमुदित निज निज काज सिधाए॥
मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिअ जस देवता॥
सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आईं। आयसु होइ सो करहिं गोसाईं॥

राम बिरह ब्याकुल भरतु सानुज सहित समाज।
पहुनाईं करि हरहु श्रम कहा मुदित मुनिराज॥११॥

रिधि सिधि सिर धरि मुनिवर बानी। बड़भागिनि आपुहि अनुमानी॥
कहहिं परसपर सिधि समुदाईं। अतुलित अतिथि राम लघु भाईं॥
मुनि पद बंदि करिअ सोइ आजू। होइ सुखी सब राज समाजू॥
अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना॥
भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे॥
दासीं दास साजु सब लीन्हें। जोगवत रहहिं मनहिं मनु दीन्हें॥
सब समाजु सजि सिधि पल माहीं। जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं॥
प्रथमहिं बास दिए सब केही। सुन्दर सुखद तथा रुचि जेही॥

बहुरि सपरिजन भरत कहुँ रिषि अस आयसु दीन्ह।
बिधि बिसमय दायकु बिभव मुनिवर तपबल कीन्ह॥१२॥

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका॥
सुख समाजु नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ग्यानी॥
आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहग मृग नाना॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमलजलासयबिबिधबिधाना॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥
सुर सुरभी सुरतरु सबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें॥
रितु बसंत बह त्रिबिधि बयारी। सब कहँ सुलभ पदारथ चारी॥
स्रक चंदन बनितादिक भोगा। देखि हरष बिसमय बस लोगा॥

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार॥१३॥

कीन्ह निमज्जनु तीरथराजा। नाइ मुनिहि सिरु सहित समाजा॥
रिषि आयसु असीस सिर राखी। करि दंडवत बिनय बहु भाषी॥
पथ गति कुसलसाथ सब लीन्हें। चले चित्रकूटहिं चितु दीन्हें॥
रामसखा कर दीन्हें लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू॥
नहि पद त्रान सीस नहिं छाया। प्रेम नेमु ब्रतु धरमु अमाया॥
लखन राम सिय पंथ कहानी। पूँछत सखहि कहत मृदु बानी॥
राम बास थल बिटप बिलोकें। उर अनुराग रहत नहिं रोकें॥
देखि दसा सुर बरिसहिं फूला। भइ मृदु महि मगु मंगल मूला॥

किए जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात॥१४॥

('रामचरितमानस' से)

लंकादहन

बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर,
खोरि खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर हैं।
तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै कै,
लात के अघात सहै जी में कहै 'कूर हैं'॥
बाल किलकारी कै कै, तारी दै दै गारी देत,
पाछे लागे बाजत निशान ढोल तूर हैं।
बालधी बढ़न लागी, ठौर ठौर दीन्हीं आगि,
विंध की दवारि, कैधों कोटिसत सूर हैं॥१॥

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरबारि सी उघारी है।
तुलसी सुरेस-चाप कैधौं दामिनी-कलाप,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
'कानन उजार्‌यौ अब नगर प्रजारी है' ॥२॥

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत,
'जरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनि, भामिनी, भाभी,
छोटे छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे।

हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष वृषभ छोरो,
छेरी छोरो सोवै सो जगावो जागि जागि रे'।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
'बार बार कह्यो पिय कपि सों न लागि रे' ।।३।।

लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बार हीं।
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
'तात तात! तौंसियत, झौंसियत झारहीं' ।।४।।

रावन सो राजरोग बाढ़त विराट उर,
दिन दिन बिकल सकल सुखराँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न बिसोक, ओत पावै न मनाक सो।।
राम की रजाय तें रसायनी सभीरसूनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो ।।५।।

('कवितावली' से)

सीता का विरह-वर्णन

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ ॥१॥
अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ ॥२॥

राम नाम की महिमा

केहि गिनती महँ? गिनती जस बनघास।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ॥३॥
कामधेनु हरिनाम, काम तरु राम।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ॥४॥
('बरवै रामायण' से)

आत्मचरित

मातु पिता जग जाय तज्यो, विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच, निरादर-भाजन, कादर, कूकर टूकन लागि ललाई॥
राम-सुभाउ सुन्यो तुलसी, प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सो साहब खोरि न लाई ॥१॥

जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को॥
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनतसिहात सोच बिधिहूँ गनक को।
नाम, राम! रावरो सयानो किधौं बावरो,
जो करत गिरी तें गुरु तृन तें तनक को ॥२॥

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न व्याहव, काहू को जाति बिगारै न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि के खैबो मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैवे को दोऊ ।।३।।

जीबे की न लालसा, दयालु महादेव! मोहिं,
मालुम है तोहिं मरिबेइ को रहतु हौं।
कामरिपु राम के गुलामनि को कामतरु,
अबलंब जगदंब सहित चहतु हौं।।
रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि पदपंकज गहतु हौं।
ज्याइए तौ जानकी-रमन-जन जानि जिय,
मारिए तौ माँगी मीचु सूधियै कहतु हौं ।।४।।

('कवितावली' से)

सेनापति

कवि-श्रेष्ठ सेनापति का जन्म १६०० ई० के आसपास अनूपशहर में हुआ। ये परशुराम दीक्षित के पौत्र, गंगाधर दीक्षित के पुत्र तथा हीरामणि दीक्षित के शिष्य थे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्त-रत्नाकर' की रचना १६४९ ई० में हुई। इनके मृत्यु काल के सम्बन्ध में कोई संकेत प्राप्त नहीं है।

सेनापति रीतिकाल के आरंभिक कवियों में से हैं। अतः उनके काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का होना स्वाभाविक ही है। यद्यपि उनका 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक लक्षण ग्रन्थ अभी प्राप्त नहीं है, किन्तु उनके साहित्य शास्त्र-संबंधी गंभीर ज्ञान का तथा काव्य में उसके भावुकतापूर्ण प्रयोग की पटुता का परिचय हमें 'कवित्त-रत्नाकर' से ही भलीभाँति प्राप्त हो जाता है। अलंकारों को ही वर्ण्य विषय मानकर इतनी सरस, प्रांजल और मर्मस्पर्शी रचना करने का श्रेय एकमात्र सेनापति को है। भाषा पर इनके जैसा अबाध अधिकार कम कवियों का है। सेनापति राम के अनन्य भक्त थे तथा उनकी तद्विषयक रचनाओं में उनके हृदय की कृत्रिमता-रहित स्वच्छता के पूर्ण दर्शन होते हैं।

सेनापति का ऋतु-वर्णन उन्हें रीतिकाल के अन्य कवियों के बीच में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी बनाता है। उन्होंने उद्दीपन की दृष्टि

से तो प्रकृति का वर्णन किया ही है, किन्तु उसके अतिरिक्त प्रकृति को ही आलंबन मानकर जो स्वतंत्र वर्णन किया है वह अपनी सरसता, चित्रोपमता, दृष्टि-सूक्ष्मता एवं विदग्धता के कारण हिन्दी साहित्य में अनूठा है।

ऋतु वर्णन

बरन बरन तरु फूले उपवन वन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।
बंदी जिमि बोलत बिरद बीर कोकिल है,
गुंजत मधुप गान गुन गहियत है।।
आवै आस-पास पुहुपन की सुबास, सोई
सौंधे के सुगंध माँझ सने रहियत है।
सोभा कौं समाज, सेनापति, सुख-साज, आज
आवत बसंत रितुराज कहियत है।।१।।

लाल लाल केसू फूलि रहे हैं बिलास संग
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि मैं मिलाए हैं।
तहाँ मधु काज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन उपवन बन धाए हैं।।
सेनापति माधव महीना मैं पलास तरु,
देखि देखि भाउ कबिता के मन आए हैं।
आधे अन-सुलगि, सुलगि रहे आधे, मानौं
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं।।२।।

वृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।

तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
छाँह कौ पकरि पंछी-पंछी बिरमत है ।।
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत है ।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर की पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ।।३।।

सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं,
नद, नदी कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै ।
चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
लाग्यौ है तवन डार्‌यौ भूतलौ तचाइ कै ।।
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातें,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै ।
मानौं सीत काल, सीत-लता के जमाइबे कौं,
राखे हैं बिरंचि बीच धरा में धराइ कै ।।४।।

देखै छिति अंबर जलै है चारि ओर छोर
तिन तरवर सब ही की रूप हर्‌यौ है ।
महा झर लागै जोति भादव की होति चलै
जलद पवन तन सेक मनौ पर्‌यौ है ।।
दारुन तरनि तरैं नदी सुख पावै सब
सीरी घनछाँह चाहिबोई चित धर्‌यौ है ।
देखौ चतुराई सेनापति कविताई की जु
ग्रीषम विषम वरषा की सम कर्‌यौ है ।।५।।

दामिनी दमक सुरचाप की चमक, स्याम
घटा की झमक अति घोर घनघोर तैं।
कोकिला, कलापी, कल कूजत हैं जित-जित,
सीकर ते सीतल, समीर की झकोर तैं॥
सेनापति आवन कह्यौ है मनभावन, सु
लाग्यौ तरसावन बिरह-जुर जोर तैं।
आयौ सखी सावन, मदन सरसावन, ल-
ग्यौ है बरसावन सलिल चहुँ ओर तैं॥६॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान. घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै॥
घन सौं गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौ रबि गयौ खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान यही तैं रहत हरि सोइ कै॥७॥

खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृंग फटिक पहार के।
अंबर अडंबर सौं उमड़ि घुमड़ि, छिन
छिछकें छछारे छिति अधिक उछार के॥

सलिल सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत है, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के ॥८॥

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति, सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद, चाँदिनी छिटकि रही,
राम कैसौ जस अध ऊरध गगन हैं॥
तिमिरहरन भयौ सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं ॥९।

सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ-पाइ ठिरि कै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
सेनापति पाई कछु सोचि कै सुमरि कै॥
सीत तैं सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि क।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं हौति राति,
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै ॥१०॥
('कवित्त-रत्नाकर' से)

बिहारी

रीतिकाल के सर्वाधिक लोक-प्रिय कवि बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर के निकट गोविन्दपुर नामक ग्राम में १६०३ ई० के लगभग हुआ। तरुणावस्था में कुछ काल तक इन्हें अपनी ससुराल मथुरा में रहना पड़ा। तत्पश्चात् ये अपने प्रसिद्ध दोहे 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु.......
....' की सहायता से जयपुर के महाराजा जयसिंह को मुग्ध करके उन्हीं के दरबार में रहने लगे। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड के अनुसार महाराज जयसिंह एक वीर, निर्भय और साहसी शासक थे। बिहारी के जीवन की अन्तिम सीमा १६६३ ई० के आसपास है।

विहारी में थोड़े से शब्दों में बड़े-से-वड़ा भाव व्यंजित करने की अपूर्व क्षमता थी। उनकी भाषा में सुव्यवस्था और एक रूपता है तथा अनावश्यक शब्दों के प्रयोग का नितान्त अभाव है।

'सतसई' बिहारी की एक मात्र रचना है। इसमें शृंगार, नीति एवं भक्ति भावना का चित्रण करने वाले लगभग सात सौ दोहे हैं। यद्यपि विहारी ने किसी लक्षण-ग्रन्थ की रचना नहीं की, किन्तु काव्यशास्त्र के सभी अंगों के श्रेष्ठ उदाहरण इन सात सौ दोहों में से ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रूप और शृंगार के वर्णन में कवि ने अनुभावों और भावों की आकर्षक योजना की है। किन्तु बिहारी का विरह-वर्णन यथार्थ की भूमि को बहुत नीचे छोड़ कर ऊहात्मक हो गया है। उनके अलंकार भावोत्कर्ष में सदैव सहायक होकर आते हैं।

बिहारी के नीति-संबंधी दोहे जीवन की ठोस अनुभूति पर आधृत होने के कारण बड़े मार्मिक और प्रभावशाली हो गए हैं। उनकी अन्योक्तियां तो बहुत ही हृदयस्पर्शी हैं। उनमें से कई का राजनीतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

'सतसई' में अनेक ऐसे दोहे भी बिखरे पड़े हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य, वाग्विदग्धता तथा अपने पापों के सम्बन्ध में स्वीकारोक्ति के सहारे अनन्य भक्ति संबंधी भावों की उत्कृष्ट व्यंजना की गई है। इन दोहों में बिहारी का हृदय छलकता हुआ दिखाई देता है, और वे हमारे सामने एक सच्चे भक्त के रूप में आते हैं।

यद्यपि बिहारी प्रधानतः श्रृंगार रस के कवि थे, किन्तु व्यावहारिक जीवन में वे संतोष, सदाचरण एवं एकपत्नीव्रत के पक्षपाती थे। "पट पाँखै, भखु काँकरे-----" वाली अन्योक्ति में उनके इस मत का स्पष्ट निदर्शन है।

भक्ति

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँईं परे, स्याम हरित दुति होय॥१॥

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग-पग होत प्रयाग॥२॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रंग, त्यों त्यों उज्जल होय॥३॥

मन मोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों विहारि, गिरधारी उर धारि॥४॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम॥५॥

यह जग काँचो काँच सो, मैं समुझ्यौ निरधार।
प्रतिबिंवित लखिये जहाँ एकै रूप अपार॥६॥

तौलगि या मन सदन मैं, हरि आवैं किहि बाट।
बिकट जटे जौलौं निपट, खुलैं न कपट कपाट॥७॥

यहि बिरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाय जिन, कीने पार पयोधि॥८॥

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन बिस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट ही, चंग रंग गोपाल॥९॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनो तारन-बिरद, बारक बारन तारि॥१०॥

कौन भाँति रहिहै बिरद, अब देखिबो मुरारि।
बीधे मों सों आन के, गीधे गीधहि तारि॥११॥

थोरेईं गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुम हू कान्ह मनो भये, आज कालि के दानि॥१२॥

कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुम हू लागी जगत-गुरु, जगनायक जग-बाय॥१३॥

ज्यौं ह्वैहौं त्यौं होहुँगो, हौं हरि अपनी चाल।
हठ न करो अति कठिन है, मो तारिबो गोपाल॥१४॥

करौ कुबत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल चित, बसत त्रिभंगी लाल॥१५॥

मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरद की, दुहुन निबाहन लाज॥१६॥

हरि कीजत तुमसो यहै, बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भाँति डरो रहौं, परो रहौं दरबार॥१७॥

नीति

जद्यपि सुन्दर सुघट पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितौ, भरिये जितौ सनेह॥१८॥

न ये बिससिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय।
आँटे परि प्रानन हरैं, काँटे लौं लगि पाय॥१९॥

बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जप दान॥२०॥

बड़े न हूजे गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय॥२१॥

गुनी गुनी सब कोउ कहै, निगुनी, गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत॥२२॥

संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगंध॥२३॥

बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत सुन फिरि घटै, बरु समूल कुम्भिलाय॥२४॥

जो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त॥२५॥

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय॥२६॥

अन्योक्ति

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल॥२७॥

इहि आसा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वै हैं बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन वे फूल॥२८॥

दुसह दुराज प्रजानि को, क्यों न बढ़ै अति दंद।
अधिक अँधेरो, जग करैं, मिलि मावस रवि चंद॥२९॥

अति अगाध अति ओथरे, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय॥३०॥

को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी हू भूल।
दीने दई गुलाब कों, इन डारन ये फूल॥३१॥

वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब ॥३२॥
करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गंधी मति अंध तू, अतर दिखावत ताहि ॥३३॥
को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ॥३४॥
पट पाँखे, भखु काँकरे, सदा परेई संग।
सुखी परेवा जगत में, एकै तुही बिहंग ॥३५॥
स्वारथ सुकृत न स्रम बृथा, देखु बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि परि, तूँ पंछीहि न मारि ॥३६॥

श्रृंगार

चिरजीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥३७॥
दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥३८॥
तोपर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी-समान ॥३९॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहन हँसे, देन कहै नटि जाय ॥४०॥

रूप

मोरमुकुट की चंद्रिकनि यों राजत नंदनंद।
मनु ससिसेखर के अकस किय सेखर सत चंद ॥४१॥
सोहत ओढ़े पीतपट स्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर आतप पर्यौ प्रभात ॥४२॥
अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष सी होति ॥४३॥

भाल लाल बेंदी ललन, आषत रहे विराजि।
इंदुकला कुँज में बसी, मनो राहु भय भाजि ॥४४॥
पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्योई रहत, आनन ओप उजास ॥४५॥
अजौं तर्‌यौना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग ॥४६॥
भूषन भार सँभारिहै, क्यौं यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न परत धर, सोभा ही के भार ॥४७॥
लिखन बैठि जाकी सबिहिं, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥४८॥

विरह

सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि बिरहिनि-तन-ताप।
बसिबे को ग्रीषम दिवनु, परो परोसिन पाप ॥४९॥
आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति।
साहस कै कै नेह-बस, सखी सबै ढिंग जाति ॥५०॥
सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुवैं चलत वहि गाम।
बिन बूझे बिनही कहे, जियत बिचारी बाम ॥५१॥
करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छांड़त नीचु।
दीने हू चसमा चखनि, चाहे लहै न मीचु ॥५२॥
हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव।
कहा जानि ये कहत है, ससिहिं सीतकर नाँव ॥५३॥
बिरह बिकल बिनुही लिखी, पाती दई पठाय।
आँक बिहीनीयो सुचित, सूनै बाँचत जाय ॥५४॥

प्रकृति

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर, मृग बाघ।
जगत तपोबन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ।।५५।।
पावस-निसि अंधियार में, रह्यौ भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान।।५६।।
आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरान।
घरहिं जँवाईं लौं घट्यौ, खरो पूस दिन मान।।५७।।
रुनित भृंग घंटावली, झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंजसमीर।।५८।।
चुवत सेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दक्षिण देस ते, थक्यो बटोही बाय।।५९।।

('सतसई' से)

दीनदयाल गिरि

बाबा दीनदयाल गिरि का जन्म १८०३ ई० की वसंत- पंचमी को काशी में हुआ। पांच वर्ष की छोटी अवस्था में ही इन्हें पितृहीन होकर काशी के पंचक्रोशी-मार्ग में पड़ने वाले देहली-विनायक नामक स्थान के अधिकारी महंत कुशागिरि का आश्रय प्राप्त हुआ। ये हिन्दी और संस्कृत के विद्वान् थे। मठधारी शैव संन्यासी होते हुए भी ये संकुचित साम्प्रदायिक कट्टरता की भावना से सर्वथा मुक्त थे। आर्थिक कठिनाइयों के बीच में भी इन्होंने अपनी उदारता और स्वाभिमान को कम नहीं होने दिया—न तो दुखियों की सहायता करना बन्द किया और न कभी किसी धनवान के आगे हाथ फैलाया। १८५८ ई० में इनका परलोकवास हुआ।

दीनदयाल गिरि सहृदय और भावुक कवि थे। शब्द-चमत्कार और भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। यद्यपि इनके कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त हैं, किन्तु इनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' है, जो पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'हिन्दी साहित्य में एक अनमोल वस्तु है।' अनुभूति की गंभीरता, अभिव्यक्ति की कलात्मकता, भाषा का सौष्ठव किसी भी दृष्टि से देखें, नीति-काव्य के लेखकों में दीनदयाल गिरि सर्वोपरि सिद्ध होते हैं। इनकी अध्यात्म-संबंधी अन्योक्तियाँ रहस्यवादी काव्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

अन्योक्ति

हितकारी ऋतुराज तुम साजत जग आराम।
सुमन सहित आसा भरो दलहिं करौ अभिराम॥
दलहिं करौ अभिराम कामप्रद द्विज गुन गावैं।
लहि सुबास सुखधाम बात वर ताप नसावैं॥
बरनै दीनदयाल हिये माधव धुनि प्यारी।
श्रवन सुखद सुकबैन बिमल बिलसैं हितकारी॥१॥

ग्रीषम तुम ऋतुराज के पाले दीन सुसाखि।
तिनको दाहत हौ कहा दावानल में माखि॥
दावानल में माखि जारि फिरि राख उड़ाईं।
उन दीनन की दसा देखि नहिं दाया आईं॥
बरनै दीनदयाल द्विजन तापत क्यों भीखम।
मित्रहु तुमरे संग चढ़ै वृष दारून ग्रीषम॥२॥

पावस ऋतु सुखदानि जग तुम सम कोऊ नाहिं।
चपलाजुत घनस्याम नित बिहरत हैं तुव माहिं॥
बिहरत हैं तुव माहिं नीलकंठहु सुखदाईं।
अंबर देत सुहाय द्विजन की करत सहाईं॥
बरनै दीनदयाल सकल सुख तौ सुखमा-बस।
एकै हंस उदास रहै काहे हे पावस॥३॥

पाईं छवि द्विजराज कवि गुरुवर अंबर सोह।
दरे दरद हे सरद हिय करे मोद संदोह॥

करे मोद संदोह धरे गुन सज्जन केरे।
कुवलय खरे विकास भरे भासैं चहुँ फेरे॥
बरनै दीनदयाल जगत के तुम सुखदाई।
करिए कहा प्रशंस हंस विलसैं छवि पाई॥४॥

आवत ही हेमंत तो कंपन लगो जहान।
कोक कोकनद भे दुखी अहित भए जगप्रान॥
अहित भए जगप्रान संग जबहीं तुव पाए।
दुखद भए द्विजराज मित्र निज तेज घटाए॥
बरनै दीनदयाल दीन द्विज-पाँति कँपावत।
कामिन को भी मोद एक ही तो जग आवत॥५॥

गाये सुजस समूह तो कविराजन अवदात।
फैली महिमा रावरी महिमंडल में ख्यात॥
महिमंडल में ख्यात फाग रागन कौं गावैं।
शिशिर सुआप प्रसाद जगत सबही सुख पावैं॥
बरनै दीनदयाल कुंद मिस तो जस छाये।
एक बिचारे पात तिने उतपात लगाये॥६॥

भूतल तो महिमा बड़ी फैल रही संसार।
छमासील को कहि सकै सहत सकल के भार॥
सहत सकल के भार धराधर धीर धरे हो।
पारावार-अपार-धार सिर क्रीट करे हो॥
बरनै दीनदयाल जगो जग है जस ऊजल।
सब की छमत गुनाह नाह तुम सब के भूतल॥७॥

करिये सीतल हृदय बन सुमन गयो मुरझाय।
सुनो विनय घनस्याम हे सोभा सघन सुहाय॥
सोभा सघन सुहाय कृपा की धारा दीजै।
नीलकंठ प्रिय पालि सरस जग में जस लीजै॥
बरनै दीनदयाल तृषा द्विजगन की हरिये।
चपला सहित लखाय मधुर सुर कानन करिये॥८॥

आयो चातक बूंद लगि सब सर सरित बिसारि।
चहियत जीवन दानि! तिहि निरदै पाहन मारि?
निरदै पाहन मारि पंख बिन ताहि न कीजै।
याहि रावरी आस, प्यास हरि जग जस लीजै॥
बरनै दीनदयाल दुसह दुख आतप तायो।
तृषावन्त हित-पूर दूर तें चातक आयो॥९॥

गरजे बातन तें कहा धिक नीरधि! गंभीर।
बिकल बिलौकें कूप-पथ तृषावन्त तो तीर॥
तृषावंत तो तीर फिरैं तुहि लाज न आवै।
भंवर लोल कल्लोल कोटि निज बिभौ दिखावै॥
बरनै दीनदयाल सिंधु तोकों को बरजै।
तरल तरंगी ख्यात वृथा बातन तें गरजै॥१०॥

बहु गुन तो में हैं धुनी! अति पुनीत तो नीर।
राखति यह ऐगुन बड़ो बक मराल इक तीर॥
बक मराल इक तीर नीच ऊँचो न पिछानति।
सेत सेत सब एक, नहीं ऐगुन गुन जानति॥

बरनै दीनदयाल चाल यह भली न है सुन।
जग मैं प्रगट, नसाहिं एक ऐगुन तें बहुगुन ॥११॥

चिन्तामनि अरु नीलमनि पदमराग सु-प्रवीन।
सुन्यो न पारस ! तुम बिना लोह कनक कोउ कीन ॥
लोह कनक कोउ कीन नहीं जग में जो मानिक।
चमकैं ठौरहिं ठौर जगे हैं जे जेहि खानिक॥
बरनै दीनदयाल अहो पारस तुम हो धनि।
कियो कुधातु महीस-मुकुट क्या है चिन्तामनि ॥१२॥

दिन द्वै पाय बसंत-मद फूल्यो कहा पलास।
ग्रीखम भीखम सीस पै नहि लाली की आस॥
नहिं लाली की आस फूल सब तेरे झरिहैं।
पीछे तोहि न बली ! अली कोउ आदर करिहैं॥
बरनै दीनदयाल रहो नय कोमल किन ह्वै।
ये नख नाहर-रूप रहेंगे तेरे दिन द्वै॥१३॥

सेमल ! बिना सुगंध तू करत मालती रीस।
छलि रे भ्रम दै सुकन को, नहिं जैहै हरि सीस॥
नहिं जैहै हरिसीस भूलि जिन लखि निज लाली।
जैहै बेगि बिलाय ल्याय मति मद को खाली॥
बरनै दीनदयाल जगत में बिन गुन जे खल।
करैं वृथा अभिमान जथा तरु मैं तू सेमल॥१४॥

दारों तुम या बाग में कहा हँसो मुख खोलि।
दिना चार की औंधि मैं लीजै नेक कलोलि॥
लीजै नैक कलोलि दसन की जो यह लाली।
जैहै कहूँ बिलाय, होयगी डाली खाली॥

बरनै दीनदयाल लगे खग हैं दिसि चारों।
भीतर काटत कीट कौन रँग रातो दारों ॥१५॥

एकै ऐगुन देखि कै नींव न तजो सुजान।
याकी कटुता नहिं गुनो करि बहुगुन पहिचान॥
करि बहुगुन पहिचान प्रथम सब रोग बिनासै।
जो कोउ सेवै याहि ताहि पीछे सुख भासै॥
बरनै दीनदयाल छाँह मुद देति अनेकै।
यह सीतलता खानि तजो कटु देखि न एकै ॥१६॥

जग मैं गुनमय करि तुमैं बरनैं सकल महान।
कहा भयो जो नहिं कियो चपल एक अलि मान॥
चपल एक अलि मान कियो नहिं कछू नसायो।
हे कपास सहि खेद धन्य परछेद दुरायो॥
बरनै दीनदयाल स्याम याको गनि ठग मैं।
मधुप मंद किमि जान, तुमैं बुध जानैं जग मैं॥१७॥

माली की सहि सासना सुनि गेंदे मति भूल।
बिन सिर दै पैहे नहीं वहै हजारे फूल॥
वहै हजारे फूल जौन सुरसीस चढ़ैगो।
दए आपनो आप अधिक तें अधिक बढ़ैगो॥
बरनै दीनदयाल किती तू पैहै लाली।
तेरे ही हित देत हेत सिख तोकों माली॥१८॥

नाहीं भूलि गुलाब! तू गुनि मधुकर गुंजार।
यह बहार दिन चार की बहुरि कटीली डार॥
बहुरि कटीली डार होहिंगी ग्रीखम आए।
लुवैं चलैंगीं संग अंग सब जैहैं ताए॥

बरनै दीनदयाल फूल जोलौं तौ पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं ॥१९॥
तौ लौं अलि! तू विहरि लै जौ लौं मित्र प्रकास।
पीछे बाँधो जायगो रजनी नीरज पास॥
रजनी नीरज पास बँधे फिरि स्वाँस न ऐहै।
यह तो बिधि को तात, कला इत नाहिं चलैहै॥
बरनै दीनदयाल सुमन सेयो कइ सौ लौं।
बुड़्यो कोकनद नहीं, रही चतुराई तौ लौं ॥२०॥
चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख अंबोह मोह दुख होय न ताके॥
बरनै दीनदयाल भाग्य बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ॥२१॥

('अन्योक्ति-कल्पद्रुम' से)

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

आधुनिक युग में जब खड़ी बोली काव्य-भाषा के आसन पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी, ब्रजभाषा के सहज माधुर्य से साहित्य-रसिकों को एक बार पुनः मुग्ध और चमत्कृत करने वाले सुकवि-श्रेष्ठ श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य-परिवार में १८६६ ई० में हुआ। 'रत्नाकर' जी के पिता बाबू पुरुषोत्तमदास जी साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न विद्वान् तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के घनिष्ठ मित्र थे। हिन्दी की शोभा बढ़ाने का वरदान 'रत्नाकर' जी को अपनी बाल्यावस्था में ही भारतेन्दु जी से प्राप्त हो गया था। वे अयोध्या के महाराज तथा उनकी मृत्यु के पश्चात् महारानी के बहुत काल तक निजी सचिव रहे थे। इस कारण उनका अधिकांश समय शासन-प्रबन्ध-संबंधी कार्यों में व्यतीत हुआ। किन्तु तो भी उन्होंने अपने काव्यानुराग को कम नहीं होने दिया, और ब्रजभाषा में अपने अतिरिक्त दूसरों को भी रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया। प्रयाग का रसिक-मंडल, जो ब्रजभाषा-कवियों का एक सशक्त समाज था, उन्हीं की प्रेरणा से प्राणमय था। हरिद्वार में गंगा के पवित्र तट पर १९३२ ई० में उन्होंने शरीर त्याग किया।

'रत्नाकर' जी ने ब्रजभाषा के स्वाभाविक माधुर्य में अपनी सुन्दर शब्द-योजना और प्रवाह-मयी शैली के द्वारा और भी अधिक निखार उत्पन्न कर दिया है। उनकी वीर-रस संबंधी रचनाओं में ओज भी प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। उनका अलंकार-विधान भाव-वस्तु व्यंजना का

उत्कर्षक है। हृदयस्थ भावों की चित्रोपम अभिव्यक्ति के लिए वे अनुभावों की लड़ी सजा देने में सिद्धहस्त हैं। उनका वाक्य-विन्यास ससज्ज एवं सुगठित है, और छन्द अथवा तुक के अनुरोध से उन्होंने शब्दों के रूप को तोड़-मरोड़ कर कभी भी विकृत नहीं किया है।

'भ्रमर-गीत' की परंपरा में लिखा गया 'रत्नाकर' जी का 'उद्धव-शतक' उनकी सर्वाधिक लोक-प्रिय रचना है। इसका एक-एक पद कृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम-भाव से अनुप्राणित है। निर्गुण की निःसारता और सगुण के महत्त्व के प्रतिपादन में जिन तर्कों का उपयोग किया गया है वे अपनी वक्रोति-पूर्ण विदग्धता के कारण हिन्दी में अनूठे हैं।

भीष्म-प्रतिज्ञा

भीषम भयानक पुकारचौ रन-भूमि आनि,
छाईं छिति छत्रिनि की गीति उठि जाइगी।
कहै रतनाकर रुधिर सौं रुँधेगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जाइगी॥
जीति उठि जाइगी अजीत पंडु-पूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जाइगी।
कैतौ प्रीति-रीति की सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरि-प्रन की प्रतीति उठि जाइगी॥१॥

पारथ बिचारौ पुरुषारथ करैगौ कहा,
स्वारथ-समेत परमारथ नसैहौं मैं।
कहै रतनाकर प्रचारचौ रन भीषम यौं,
आज दुरजोधन-दुख दरि दैहौं मैं॥
पंचनि कै देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पंचनि कौ स्वत्व पंचतत्त्व मैं मिलैहौं मैं।
हरि प्रन-हारी-जस धारि कै धरा ह्वै सांत,
सांतुन कौ सुभट सपूत कहवैहौं मैं॥२॥

मुंड लागे कटन पटन काल-कुंड लागे,
रुंड लागे लोटन निमूल कदलीनि लौं।
कहै रतनाकर वितुंड-रथ-बाजी-भुंड,
लुंड मुंड लोटैं परि उछरिति मीनि लौं॥
हेरत हिराए से परस्पर सचिंत चूर,
पारथ औ सारथी अदूर दरसीनि लौं।

लच्छ-लच्छ भीषम भयानक के वान चले,
सवल सपच्छ फुफुकारत फनीनि लौं ।।३।।

भीषम के वाननि की मार इमि माँची गात,
एकहूँ न घात सव्यसाची करि पावै है।
कहै रतनाकर निहारि सो अधीर दसा,
त्रिभुवन-नाथ-नैन नीर भरि आवै है।।
बहि बहि हाथ चक्र-ओर ठहि जात नीठि,
रहि रहि तापै बक्र दीठि पुनि धावै है।
इत प्रन-पालन की कानि सकुचावै उत,
भक्त-भय-घालन की बानि उमगावै है।।४।।

छूटयौ अवसान मान सकल धनंजय कौ,
धाक रही धनु मैं न साक रही सर मैं।
कहै रतनाकर निहारि करुनाकर कै,
आई कुटिलाई कछु भौंहनि कगर मैं।।
रोक भर रंचक अरोक बर बाननि की,
भीषम यौं भाष्यौ मुसकाइ मंद स्वर मैं।
चाहत बिजै कौं सारथी जौ कियौ सारथ,
तौ बक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ कर मैं।।५।।

बक्र भृकुटी कैं चक्र ओर चष फेरत ही,
सक्र भए अक्र उर थामि थहरत हैं।
कहै रतनाकर कलाकर अखंड मंडि,
चंडकर जानि प्रलय खंड ठहरत हैं।।
कोल कच्छ कुंजर कहलि हलि काढ़ैं खीस,
फननि फनीस कैं फुलिंग फहरत हैं।

मुद्रित तृतीय दृग रुद्र मुलकावैं मीड़ि,
उद्रित समुद्र अद्रि भद्र भहरत हैं ॥६॥
जाकी सत्यता मैं नग-सत्ता कौ समस्त सत्व,
ताके ताकि प्रन कौ अतत्त्व अकुलाए हैं।
कहै रतनाकर दिवाकर दिवस ही मैं,
झंप्यौ कंपि झूमत नछत्र नभ छाए हैं॥
गंगानंद आनन पै आईं मुसकानि मंद,
जाहि जोहि वृन्दारक-वृन्द सकुचाए हैं।
पारथ की कानि ठानि भीषम महारथ की,
मानि जब बिरथ रथांग धरि धाए हैं॥७॥
ज्यौंही भए बिरथ रथांग गहि हाथ नाथ,
निज प्रन-भंग की रही न चित चेत है।
कहै रतनाकर त्यौ संग हीं सखाहूँ कूदि,
आनि अर्‌यौ सौहैं हाहा करत सहेत है॥
कलित कृपा औ तृषा द्विमग समाहे पग,
पलक उठयौई रह्यौ पलक-समेत है।
धरन न देत आगै अरुझि धनंजय औ,
पाछैं उभर भक्त-भाव परन न देत है ॥८॥
('वीराष्टक' से)

गोपी-उद्धव-संवाद

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की
सुधि ब्रज-गावनि मैं पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं॥

उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ॥१॥

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से॥
सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से ॥२॥

ऊधौ कहौ सूधौ सो सनेस पहिलै तौ यह
प्यारे परदेस तैं कवै धौं पग पारिहैं।
कहै रतनाकर तिहारी परि बातनि मैं
मीड़ि हम कब लौं करेजौ मन मारिहैं॥
लाइ-लाइ पाती छाती कब लौं सिरैहैं हाय
धरि-धरि ध्यान धीर कब लगि धारिहैं।
बैननि उचारिहैं उराहनौ कवै धौं सबै
स्याम कौ सलोनौ रूप नैननि निहारिहैं ॥३॥

आए हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तौपै
ऊधौ ये बियोग के बचन बतरावौ ना।
कहै रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ
दुख दरिबै कौं, तौपै अधिक बढ़ावौ ना॥

टूक-टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारौ हाय
चूंकि हूँ कठोर-बैन पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजारयौ मोहिं
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना ।।४।।

रंग-रूप रहित लखात सबही हैं हमैं
वैसौ एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।
कहै रतनाकर जरी हैं बिरहानल मैं
और अब जोति कौं जगाइ जरिहैं कहा।।
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा।।५।।

वाही मुख मंजुल की चहति मरीचैं सदा
हमकौं तिहारी ब्रह्म-ज्योति करिबौ कहा।
कहै रतनाकर सुधाकर-उपासिनि कौं
भानु की प्रभानि कौं जुहारि जरिबौ कहा।।
भोगि रहीं बिरचे बिरंचि के संजोग सबै
ताके सोग सारन कौ जोग चरिबौ कहा।
जब ब्रजचंद कौ चकोर चित चारु भयौ
बिरह-चिगारिनि सौं फेरि डरिबौ कहा।।६।।

साधि लैहैं जोग के जटिल जे बिधान ऊधौ
बाँधि लैहैं लंकनि लपेटि मृगछाला हू।
कहै रतनाकर सु मेल लैहैं छार अंग
झेलि लैहैं ललकि घनेरे घाम पाला हू।।

तुम तौ कही औ अनकही कहि लीनी सबै
अब जौ कहौ तौ कहें कछु ब्रज-वाला हू।
ब्रह्म मिलिबें तें कहा मिलिहै बतावौ हमें
ताकौ फल जब लौं मिले ना नंदलाला हू ॥७॥

चाहत निकारन तिन्हें जो उर अंतर तें
ताकौं जोग नाहिं जोग-मंतर तिहारे में।
कहै रतनाकर बिलग करिबै में होति
नीति बिपरीत महा कहति पुकारे में॥
तातें तिन्हें ल्याइ लाइ हिय तें हमारे वेंगि
सोचिये उपाय फेरि चित्त चेतवारे में।
ज्यौं-ज्यौं बसे जात दूरि-दूरि पिय प्रान-मूरि
त्यौं-त्यौं धँसे जात मन-मुकुर हमारे में॥८॥

('उद्धव-शतक' से)

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

सुकवि-शिरोमणि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म आजमगढ़ जिले के निजामाबाद नामक ग्राम में १८६५ ई० में हुआ। हरिऔध जी ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन होते हुए भी उनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहकर विभिन्न और विरोधी शैलियों में साहित्य-सर्जन का कार्य किया है। इससे उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का गौरव प्रकट होता है। व्रजभाषा, संस्कृत-गर्भित हिन्दी, ठेठ बोलचाल की हिन्दी---इन सभी पर उनका यथेष्ट अधिकार था। हिन्दी-संस्कृत के अतिरिक्त वे उर्दू-फ़ारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। उनके ग्रन्थों की लम्बी भूमिकाओं से उनकी गंभीर विद्वत्ता और विचारशीलता का परिचय मिलता है। सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण कर चुकने के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में 'हरिऔध' जी ने अध्यापन भी किया था। चिरकाल तक अनेक प्रकार से राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा करते हुए भारती के इस महान् उपासक ने १९४७ ई० में इस संसार से विदा ली।

सरसता और भावुकता के विचार से 'हरिऔध' जी की समस्त कृतियों में संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में लिखा गया तथा संस्कृत की समस्त पदावली से युक्त उनका 'प्रिय-प्रवास' ही सर्वश्रेष्ठ ठहरता है। यद्यपि इस काव्य का मूल कथानक श्रीकृष्ण के व्रज से मथुरा जाने से उद्‌भूत व्रजवासियों की विरह-व्यथा के प्रसंग तक सीमित होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, किन्तु सहृदय कवि ने अपनी अनुभूतिमय संवेदनशील कल्पना के प्रसार द्वार इतने करुण-रस-सिक्त प्रसंगों की अवतारणा की है कि सारा ग्रन्थ वेदना-

जनित अश्रुओं का एक सागर बन गया है। बीच-बीच में प्रकृति के सुन्दर चित्रण से काव्य के आकर्षण में अभिवृद्धि हुई है। विश्व के प्रेम में डूबी हुई जन-सेविका राधा तथा लोक-कल्याण के कार्यों में व्यस्त कर्मयोगी कृष्ण के चित्रण द्वारा कृष्ण-काव्य के लिए एक नया आदर्श प्रस्तुत किया गया है। यशोदा के चरित-चित्रण में मातृ-हृदय के अलौकिक स्नेह तथा विवशता-पूर्ण व्यथा का अंकन जिस कुशल कलाकार की सधी हुई तूलिका से किया गया है, वह आधुनिक हिन्दी साहित्य में अप्रतिम है।

'बोलचाल', 'वैदेही वनवास' और 'रस-कलस' आदि अनेक श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास और 'हिन्दी साहित्य का विकास' नामक इतिहास-ग्रन्थ 'हरिऔध' जी की महत्त्वपूर्ण गद्य-रचनाएँ हैं।

यशोदा के वचन उद्धव के प्रति

मेरे प्यारे स-कुशल सुखी और सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती?
ऊधो छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती हैं हृदय तल में तो नहीं बेदनायें? ॥१॥

मीठे-मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना।
धीरे प्यारों-सहित सुतको कौन होगी खिलाती।
प्रातः पीता सु-पय कजरी गाय का चाव से था।
हा! पाता है न अब उसको प्राण प्यारा हमारा ॥२॥

संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा।
लज्जा होती अमित उसको माँगने में सदा थी।
जैसे लेके स-रुचि सुत को अंक में मैं खिलाती।
हा! वैसे ही अब नित खिला कौन बामा सकेगी ॥३॥

मैं थी सारा-दिवस मुख को देखते ही बिताती।
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी।
हा! ऐसे ही अब बदन को देखती कौन होगी।
ऊधो माता-सदृश ममता अन्य की है न होती ॥४॥

खाने पीने शयन करने आदि की एक बेला।
जो जाती थी कुछ टल कभी खेद होता बड़ा था।
ऊधो ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी।
माता की सी अवनि तल में है अ-माता न होती ॥५॥

जो पाती हूं कुंवर-मुख के जोग में भोग प्यारा।
तो होती हैं हृदय तल में बेदनायें बड़ी ही।
जो कोई भी सु-फल सुत के योग्य में देखती हूं।
हो जाती हूँ व्यथित अति ही, दग्ध होती महा हूँ॥६॥

जो लाती थीं बिबिध-रंग के मुग्धकारी खिलौने।
वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी सी।
हा! जाती हैं पलट जब वे हो निराशा-निमग्ना।
तो उन्मत्ता-सदृश मग की ओर में देखती हूँ॥७॥

आते-लीला निपुण-नट हैं आज भी बांध आशा।
कोई यों भी न अब उनके खेल को देखता है।
प्यारे होते मुदित कितने कौतुकों से सदा थे।
वे आँखों में विषम दव हैं दर्शकों के लगाते॥८॥

प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था।
खाते-खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था।
ए बातें हैं सरस नवनी देखते याद आतीं।
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दग्धकारी॥९॥

हा! जो वंशी सरस रव से विश्व को मोहती थी।
सो आले में मलिन बन औ' मूक हो के पड़ी है।
जो छिद्रों से अमिय बरसा मूरि थी मुग्धता की।
सो उन्मत्ता परम-विकला उन्मना है बनाती॥१०॥

प्यारे ऊधो सुरत करता लाल मेरी कभी है।
क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिता का।

रो रो, हो हो विकल अपने बार जो हैं बिताते।
हा ! वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते ॥११॥

कैसे भूलीं सरस-खनि सी प्रीति की गोपिकायें।
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोप ग्वाले।
शान्ता धीरा मधुर हृदया प्रेम रूपा रसज्ञा।
कैसे भूली प्रणय प्रतिमा राधिका मोहमग्ना ॥१२॥

कैसे बृन्दा-बिपिन बिसरा क्यों लता-बेलि भूलीं।
कैसे जी से उतर सिगरी कुंज-पुंजें गई हैं।
कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले।
कैसे भूला बिकच-तरु सो कालिंदी कूल वाला ॥१३॥

सोती सोती चिहुँक कर जो श्याम को है बुलाती।
ऊधो मेरी यह सदन की सारिका कान्त-कण्ठा।
पाला-पोसा प्रति-दिन जिसे श्याम ने प्यार से है।
हा ! कैसे सो हृदय-तल से दूर यों हो गई है ॥१४॥

कुंजों कुंजों प्रतिदिन जिन्हें चाव से था चराया।
जो प्यारी थी परम ब्रज के लाड़िले को सदा ही।
खिन्ना दीना-विकल बन में आज जो घूमती हैं।
ऊधव कैसे हृदय-धन को हाय ! वे धेनु भूलीं ॥१५॥

ऐसा प्रायः अब तक मुझे नित्य ही है जनाता।
गो-गोपों के सहित बन से सद्म है श्याम आता।
यों ही आके हृदय तल को बेधता मोह लेता।
मीठा-मीठा-मुरलि-रव है कान में गूँज जाता ॥१६॥

रोते रोते तनिक लग जो आँख जाती कभी है।
तो वोंही मैं युगल-दृग को चौंक के खोलती हूँ।
प्रायः ऐसा प्रति-रजनि में ध्यान होता मुझे है।
जैसे आके सुअन मुझको प्यार से है जगाता ॥१७॥

ऐसा ऊधो प्रति-दिन कई बार है ज्ञात होता।
कोई यों है कथन करता लाल आया तुम्हारा।
भ्रान्ता सी मैं अब तक गई द्वार पै बार लाखों।
हा आँखों से न वह बिछुड़ी-श्यामली-मूर्ति देखी ॥१८॥

फूले-कंजों सदृश-दृग से मोहते मानसों को।
प्यारे प्यारे बचन कहते खेलते मोद देते।
ऊधो ऐसी अनुमिति सदा हाय! होती मुझे है।
जैसे आता निकल अब ही लाल है मंदिरों से ॥१९॥

आके मेरे निकट नवनी-लालची लाल मेरा।
लीलायें था बिबिध करता धूम भी था मचाता।
ऊधो बातें न यक पल भी हाय! वे भूलती हैं।
हा! छा जाता युगल-दृग में आज भी सो समा है॥२०॥

मैं हाथों से कुटिल-अलकें लाल की थी बनाती।
पुष्पों को भी युगल-श्रुति के कुण्डलों में सजाती।
मुक्ताओं को शिर मुकुट में मुग्ध हो थी लगाती।
पीछे शोभा निरख मुख की थी न फूले समाती ॥२१॥

मैं प्रायः ले कुसुम-कलिका चाव से थी बनाती।
शोभा-वाले-विविध गजरा क्रीट औ कुण्डलों को।

पीछे प्यारों सहित इनको श्याम को थी पिन्हाती।
औ उत्फुल्ला ग्रथित-कलिका तुल्य थी पूर्ण होती ॥२२॥

पैन्हे प्यारे वसन कितने दिव्य आभूषणों को।
प्यारी-वाणी विहँस-कहते पूर्ण-उत्फुल्ल होते।
शोभा-शाली-सुअन जब था क्रीड़ता सद्म मेरे।
तो पा जाती अमर-पुर की सर्वसम्पत्ति मैं थी ॥२३॥

होता राका-शशि उदय था फूलता पद्म भी था।
प्यारी-धारा उमग बहती चारु-पीयूष की थी।
मेरा प्यारा तनय जब था गेह में नित्य ही तो।
बंशी-द्वारा मधुर तर था स्वर्ग संगीत होता ॥२४॥

ऊधो मेरे दिवस अब वे हाय! क्या हो गये हैं।
हा! यों मेरे सुख-सदन को कौन क्यों है नसाता।
वैसे प्यारे दिवस अब मैं क्या नहीं पा सकूँगी।
हा! क्या मेरी न अब दुख की यामिनी दूर होगी ॥२५॥

ऊधो मेरा हृदय-तल था एक उद्यान-न्यारा।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं।
प्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल-विटपी मुग्धकारी-महा थे ॥२६॥

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला-वापिका थी।
लोनी लोनी नवल-लतिका थीं अनेकों उमंगें।
धीरे-धीरे मधुर हिलतीं वासना-बेलियाँ थीं।
सद्वांछा के विहग उसके मंजु भाषी बड़े थे ॥२७॥

प्यारा-प्यारा-मुख सुत-वधू-भाविनी का सलोना।
प्रायः होता प्रगट उसमें फुल्ल अम्भोज-सा था।
बेटे द्वारा विविध-सुख के लाभ की लालसायें।
हो जाती थीं विकच बहुधा माधवी-पुष्पिता सी ॥२८॥

प्यारी आशा-पवन जब थी डोलती स्निग्ध होके।
तो होती थी अनुपम-छटा बाग के पादपों की।
हो जाती थीं सकल लतिका-बेलियाँ शोभनीया।
सद्भावों के सुमन बनते सौर भीले-बड़े थे ॥२९॥

राका-स्वामी-सरस-सुख की दिव्य-न्यारी-कलायें।
धीरे धीरे पतित जब थीं स्निग्धता साथ होतीं।
तो आभा में अतुल-छवि में औ मनोहारिता में।
हो जाता सा अधिकतर था नन्दनोद्यान से भी ॥३०॥

ऐसा प्यारा-सरस अति ही रम्य उद्यान मेरा।
मैं होती हूँ व्यथित कहते आज है ध्वंस होता।
सूखे जाते सकल तरु हैं नष्ट होती लता है।
निष्पुष्पा हो बिपुल-मलिना बेलियाँ हो रही हैं ॥३१॥

प्यारे-पौधे कुसुम-कुल के पुष्प ही हैं न लाते।
भूले जाते बिहग अपनी बोलियाँ हैं अनूठी।
हा! जावेगा बिनस अति ही मंजु-उद्यान मेरा।
जो सींचेगा न घन-तन आ स्नेह-सद्वारि द्वारा ॥३२॥

ऊधो आदी तिमिर-मय था भाग्य आकाश मेरा।
धीरे धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्ति-शाली।

ज्योतिर्माला-बलित उसमें चन्द्रमा एक न्यारा।
प्यारा-प्यारा-समुदित हुआ चित्त-उत्फुल्ल-कारी ॥३३॥

आभा-वाले उस गगन में हाय! दुर्भाग्यता की।
काली काली अब फिर घटा है महा-घोर छाई।
हा! आँखों से सुबिधु जिससे हो गया दूर मेरा।
ऊधो कैसे यह दुख-मयी मेघ-माला टलेगी ॥३४॥

फूले-नीले-वनज-दल सा गात रंग प्यारा।
मीठी-मीठी मलिन मन की मोहिनी मंजु बातें।
सोंधे-डूबी अलक जब है श्याम की याद आती।
ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता ॥३५॥

पीड़ा-कारी-करुण-स्वर से ही महा उन्मना सी।
हा! रो-रोके स-दुख जब यों सारिका पूछती है।
वंशीवाला हृदयघन सो श्याम मेरा कहाँ है।
तो है मेरे हृदय-तल में शूल-सा बिद्ध होता ॥३६॥

त्यौहारों को अपर कितने पर्व औ उत्सवों को।
मेरा प्यारा-तनय अति ही-भव्य देता बना था।
आते हैं वे ब्रज अवनि में आज भी किन्तु ऊधो।
दे जाते हैं परम दुख औ बेदना हैं बढ़ाते ॥३७॥

कैसा प्यारा जनम दिन था धूम कैसी मची थी।
संस्कारों के समय सुत के रंग कैसा जमा था।
मेरे जी में उदय जब वे दृश्य हैं आज होते।
हो जाती तो प्रबल-दुख से मूर्ति मैं हूँ शिलाकी ॥३८॥

कालिन्दी के पुलिन पर की मध्य-वृन्दाटवी की।
फूलोंवाले विटप ढिग की, कुंज की, आलयों की।
प्यारी-लीला-सकल जब हैं लाल की याद आतीं।
तो कैसा है हृदय मलता मैं बता क्यों उसे दूँ।।३९।।

मारा मल्लों सहित गज को, कंस से पातकी को।
मेटी सारी नगर-वर की दानवी-आपदायें।
छाया सच्चा-सुयश जग में, पुण्य की बेलि बोई।
जो प्यारे ने स-पति दुखिया-देवकी को छुड़ाया।।४०।।

जो होती है सुरत उनके कम्प-कारी दुखों की।
तो आँसू है बिपुल बहता आज भी लोचनों से।
ऐसी दग्धा परम दुखिता जो हुई मोदिता है।
ऊधो तो हूँ परम सुखिता हर्षिता आज मैं भी।।४१।।

तो भी पीड़ा-परम इतनी बात से हो रही है।
काढ़े लेती मम हृदय क्यों स्नेह-शीला सखी है।
हो जाती हूँ मृतक सुनती हाय! जो यों कभी हूँ।
होता जाता मम तनय भी अन्य का लाड़िला है।।४२।।

मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा! ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी।
प्यारे जीवें प्रफुलित रहें औ बनें भी उन्हीं के।
धाई नाते बदन दिखला और बारेक जावें।।४३।।

नाना पूजा अपर कितने यत्न द्वारा जरा में।
मैंने ऊधो! सुकृति-बल से एक ही पुत्र पाया।

सो जा बैठा अरि नगर में हो गया अन्य का है।
मेरी कैसी, अहह कितनी, मर्म-बेधी-व्यथा है ॥४४॥

पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि शून्या न होवे।
ऊधो सीपी-सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे ॥४५॥

अंभोजों से रहित न कभी अंक हो वापिका का।
पुष्पों-वाली कलित-लतिका पुष्प हीना न होवे।
जो प्यारा है परम-धन है जीवनाधार जो है।
ऊधो ऐसे रुचिर-बिटपी-शून्य बापी न होवे ॥४६॥

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल ले ले किसी का।
पूंजी कोई जनम भर की गांठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का ॥४७॥

उद्विग्ना औ बिपुल-बिकला क्यों न सो धेनु होगी।
प्यारा लैरू अलग जिसकी आँख से हो गया है।
ऊधो कैसे व्यथित-फणि सो जी सकेगा बता दो।
जीवोन्मेषी रतन जिसके शीश का खो गया है ॥४८॥

कोई देखे न सब-जग के बीच छाया अँधेरा।
ऊधो कोई न निज-दृग की ज्योति-न्यारी गँवावे।
रो रो हो हो बिकल न सभी बार बीतें किसी के।
पीड़ायें हों सकल, न कभी मर्म-बेधी-व्यथा हो ॥४९॥

ऊधो होता समय पर जो चारु चिन्ता-मणी है।
खो देता है तिमिर उर का जो स्वकीया प्रभा से।
जो जी में है सुरसरित की स्निग्ध धारा बहाता।
बेटा ही है अवनि-तल में रत्न ऐसा निराला ॥५०॥

ऐसा प्यारा रतन जिसका हो गया है पराया।
सो होवेगी व्यथित कितना सोच जी में तुम्हीं लो।
जो आती हो मुझ पर दया अल्प भी तो हमारे।
सूखे जाते हृदय-तल में शान्ति-धारा बहा दो ॥५१॥

छाता जाता ब्रज अवनि में नित्य ही है अंधेरा।
जी में आशा न अब यह है मैं सुखी हो सकूँगी।
हाँ इच्छा है तदपि इतनी और बारेक आके।
प्यारा-प्यारा-बदन अपना लाल मेरा दिखा दे ॥५२॥

मैंने बातें यदपि कितनी भूल से की बुरी हैं।
ऊधो बाँधा सुअन-कर है आँख भी है दिखाई।
मारा भी है कुसुम-कलिका से कभी लाड़िले को।
तो भी मैं हूँ निकट सुत के सर्वथा मार्जनीया ॥५३॥

जो चूकें हैं विविध मुझसे हो चुकीं वे सदाही।
पीड़ा देती परम चित को औ सताती महा हैं।
प्यारे से यों विनय करना वे उन्हें भूल जावें।
मेरे जी को व्यथित न करें क्षोभ आके मिटावें ॥५४॥

खेलें आके युगल दृग के सामने, मंजु-बोलें।
प्यारी लीला पुनरपि करें गान मीठा सुनावें।

मर जी में अब रह गई एक ही कामना है।
आके प्यारे कुंवर उजड़ा गेह मेरा बसावें ॥५५॥

जो आँखें हैं उमग खुलतीं ढूँढ़ती श्याम को हैं।
लौ कानों को मुरलिधर की तान ही की लगी है।
आती सी है यह ध्वनि सदा रोम-कूपों सभा से।
मेरा प्यारा सुअन ब्रज में और बारेक आवे ॥५६॥

मेरी आशा नवल-लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले-पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे।
हीरे के थे कुसुम, फल थे लाल गोमेदकों के।
पन्नों द्वारा रचित उसकी सुन्दरी डंडियाँ थीं ॥५७॥

ऐसी आशा-ललित लतिका हो गई शुष्क प्राया।
सारी शोभा रतन-जनिता नित्य है नष्ट होती।
जो आवेगा न अब ब्रज में श्याम सत्कान्ति-शाली।
होगी हो के विरस वह तो सर्वथा छिन्न-मूला ॥५८॥

लोहू मेरे युगल-दृग से अश्रु की ठौर आता।
रोयें-रोयें सकल-तन के दग्ध हो छार होते।
आशा होती न यदि मुझको श्याम के लौटने की।
मेरा सूखा-हृदय तल तो सैकड़ों खंड होता ॥५९॥

चिन्ता - रूपा मलिन निशि की कौमुदी है अनूठी।
मेरी जैसी मतक बनती हेतु संजीवनी है।
नाना-पीड़ा-मथित-मन के अर्थ है शान्ति-धारा।
आशा मेरे हृदय-मरु की मंजु मंदाकिनी है ॥६०॥

ऐसी आशा सफल जिससे हो सके, शान्ति पाऊँ।
ऊधो मेरी सब-दुख-हरी-युक्ति-न्यारी वही है।
प्राणाधारा अवनि-तल में है यही एक आशा।
मैं देखूँगी पुनरपि वही श्यामली मूर्ति आँखों ॥६१॥

पीड़ा होती अधिकतर है बोध देते जभी हो।
सन्देशों से व्यथित चित है और भी दग्ध होता;
जैसे प्यारा-बदन सुत का देख पाऊँ पुनः मैं।
ऊधो हो के सदय मुझको यत्न वे ही बतादो ॥६२॥

प्यारे - ऊधो कब तक तुम्हें, वेदनायें सुनाऊँ।
मैं होती हूँ बिरत, यह हूँ किन्तु तो, भी बताती।
जो टूटेगी कुँवर-वर के लौटने की सुआशा।
तो जावेगा उजड़ ब्रज औ मैं न जीती बचूँगी ॥६३॥

('प्रिय-प्रवास' से)

मैथिलीशरण गुप्त

1051

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म १८८४ ई० में झांसी जिले के चिरगाँव नामक स्थान में हुआ। राम की भक्ति और कविता का वरदान कवि को अपने पिता स्वर्गीय सेठ श्री रामचरण जी से उत्तराधिकार में मिले। खड़ी बोली काव्य को विशेष प्रोत्साहन देनेवाले स्वर्गीय पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को गुप्त जी ने अपना काव्य-गुरु माना, और 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से उनकी रचनाएँ हिन्दी-जगत् में प्रकाश पाने लगीं। १९१२ ई० में उनका 'भारत-भारती' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिससे उनका राष्ट्रीयता और नव-जागरण का सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचा। इसके पश्चात् अब तक उनकी चालीस से अधिक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें 'पंचवटी', 'जयद्रथवध', 'यशोधरा', 'साकेत', 'द्वापर' और 'जयभारत' प्रमुख हैं। गुप्त जी के जीवन का प्रायः सभी समय साहित्य-साधना में ही व्यतीत हुआ है। इस समय आप भारतीय संसद के सदस्य तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अवैतनिक प्रोफ़ेसर हैं।

'साकेत' गुप्त जी की कीर्ति का सबसे बड़ा स्तंभ है। इसमें कवि ने राम-कथा को अधिक तर्क-सम्मत रूप में प्रस्तुत करते हुए उपेक्षित एवं लांछित पात्रों की ओर विशेष ध्यान दिया है। उपेक्षित पात्रों में हैं ऊर्मिला, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तथा लांछित पात्र हैं कैकेयी। कैकेयी ने दशरथ से दो वरदान माँगे, यह तो ठीक है। किन्तु 'साकेत' में कवि ने उस मनोवैज्ञानिक परिस्थिति का विशद अंकन किया है जिसमें पड़कर राम को कौशल्या से भी अधिक प्यार करने वाली कैकेयी ऐसे कठोर वरदान

माँगने के लिए विवश हो जाती है। परिस्थिति के इस मनोवैज्ञानिक चित्रण से कैकेयी के अपराध की गुरुता काफी कम हो गई है, और आगे चलकर जब वह सच्चे हृदय से अपने इस गर्हित कार्य पर पश्चात्ताप करती है, तब उसके अवशिष्ट दोष का भी मार्जन हो जाता है।

गुप्त जी का काव्य-क्षेत्र विषय और शैली दोनों की दृष्टियों से अत्यधिक विस्तृत है। महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक सभी कुछ उन्होंने लिखे हैं। काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली को निखारनेवालों में वे अग्रणी हैं। अपने प्रबन्ध-काव्यों में उन्होंने महान् और आदर्श पात्रों की सृष्टि की है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "गुप्त जी को लोक-चित्त में राष्ट्र-प्रीति की भावना जगानेवाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप में हिन्दी जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि हैं।"

कैकेयी का वर माँगना

लेखनी, अब किस लिए विलम्ब?
बोल,—जय भारति, जय जगदम्ब।

प्रकट जिसका यों हुआ प्रभात,
देख अब तू उस दिन की रात।

× × ×

धरा पर धर्मादर्श-निकेत,
धन्य है स्वर्ग-सदृश साकेत।

बढ़े क्यों आज न हर्षोद्रेक?
राम का कल होगा अभिषेक।

दशों दिग्पालों के गुण-केन्द्र,
धन्य हैं दशरथ मही-महेन्द्र।

त्रिवेणी - तुल्य रानियाँ तीन,
बहाती सुख - प्रवाह नवीन।

मोद का आज न ओर न छोर,
आम्रवन - सा फूला सब ओर।

किन्तु हा! फला न सुमन-क्षेत्र,
कीट बन गये मन्थरा - नेत्र।

देख कर कैकेयी यह हाल,
आप उससे बोली तत्काल—

"अरी, तू क्यों उदास है आज,
वत्स जब कल होगा युवराज?"

मन्थरा बोली निस्संकोच—
"आपको भी तो है कुछ सोच ?"

हँसी रानी सुन कर वह बात,
उठी अनुपम आभा अवदात।

"सोच है मुझको निसन्देह।
भरत जो है मामा के गेह।

सफल करके निज निर्मल-दृष्टि,
देख वह सका न यह सुख-सृष्टि।"

ठोककर अपना क्रूर - कपाल,
जताकर यही कि फूटा भाल,

किंकरी ने तब कहा तुरन्त—
"हो गया भोलेपन का अन्त।"

न समझी कैकेयी वह बात,
कहा उसने—"यह क्या उत्पात ?

वचन क्यों कहती है तू वाम ?
नहीं क्या मेरा बेटा राम ?"

"और वे औरस भरत कुमार ?"
कुदासी बोली कर फटकार।

कहा रानी ने पाकर खेद—
"भला दोनों में है क्या भेद ?"

"भेद ?"—दासी ने कहा सतर्क—
"सबेरे दिखला देगा अर्क।

राजमाता होंगी जब एक,
दूसरी देखेंगी अभिषेक ?"

रोक कर कैकेयी ने रोष,
कहा—"देती है किसको दोष ?

राम की माँ क्या कल या आज,
कहेगा मुझे न लोक-समाज।"

कहा दासी ने धीरज त्याग—
"लगे इस मेरे मुंह में आग।

मुझे क्या मैं होती हूं कौन ?
नहीं रहती हूं फिर भी मौन ?

देखकर किन्तु स्वामि-हित-घात,
निकल ही जाती है कुछ बात।

इधर भोली हैं जैसी आप,
समझतीं सबको वैसी आप।

नहीं तो यह सीधा षड्यन्त्र,
रचा क्यों जाता यहाँ स्वतन्त्र ?

महारानी कौसल्या आज,
सहज सज लेतीं क्या सब साज ?"

कहा रानी ने—"क्या षड्यन्त्र ?
वचन हैं तेरे मायिक मन्त्र।

हुई जाती हूं मैं उद्भ्रान्त,
खोल कर कह तू सब वृत्तान्त।"

मन्थर नो फिर ठोका भाल—
'शेष है अब भी क्या कुछ हाल ?

सरलता भी ऐसी है व्यर्थ,
समझ जो सके न अर्थानर्थ।

भरत को करके घर से त्याज्य,
राम को देते हैं नृप राज्य।

भरत - से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।"

कहा कैकेयी ने सक्रोध—
"दूर हो दूर अभी निर्बोध!

सामने से हट, अधिक न बोल,
द्विजिह्वे, रस में विष मत घोल।

उड़ाती है तू घर में कीच,
नीच ही होते हैं बस नीच।

हमारे आपस के व्यवहार,
कहाँ से समझे तू अनुदार?"

हुआ भ्रू-कुंचित भाल विशाल,
कपोलों पर हिलते थे बार।

प्रकट थी मानों शासन-नीति,
मन्थरा सहमी देख सभीति।

तीक्ष्ण थे लोचन अटल अडोल,
लाल थे लाली भरे कपोल।

न दासी देख सकी उस ओर,
जला दे कहीं न कोप कठोर।

किन्तु वह हटी न अपने आप,
खड़ी ही रही नम्र चुपचाप।

अन्त में बोली स्वर-सा साध—
"क्षमा हो मेरा यह अपराध।

स्वामि-संमुख सेवक या भृत्य,
आप ही अपराधी हैं नित्य।

दंड दें कुछ भी आप समर्थ,
कहा क्या मैंने अपने अर्थ?

समझ में आया जो कुछ मर्म,
उसे कहना था मेरा धर्म।

न था वह मेरा अपना कृत्य,
भर्तृ हैं भर्तृ, भृत्य हैं भृत्य।"

मही पर अपना माथा टेक,
भरा था जिसमें अति अविवेक।

किया दासी ने उसे प्रणाम,
और वह चली गई अविराम।

× × ×

गई दासी, पर उसकी बात
दे गई मानों कुछ आघात—

'भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।'
पवन भी मानों उसी प्रकार
शून्य में करने लगा पुकार—
'भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह!'
गूँजते थे रानी के कान,
तीर-सी लगती थी वह तान—
'भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह!'
मूर्ति-सी बनी हुई उस ठौर,
खड़ी रह सकी न अब वह और।

गई शयनालय में तत्काल,
गभीरा सरिता-सी थी चाल।
न सह कर मानों तनु का भार,
लेट कर करने लगी विचार।
कहा तब उसने—'हे भगवान,
आज क्या सुनते हैं ये कान?

मनोमन्दिर की मेरी शान्ति,
बनी जाती है क्यों उत्क्रान्ति?
लगा दी किसने आकर आग?
कहाँ था तू संशय के नाग?

नाथ, कैकेयी के वर-वित्त,
चीर कर देखो उसका चित्त।

स्वार्थ का वहाँ नहीं है लेश,
बसे हो एक तुम्हीं प्राणेश।

सदा थे तुम भी परमोदार,
हुआ क्यों सहसा आज विकार?

भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह।

न थी हम माँ-बेटे की चाह,
आह! तो खुली न थी क्या राह?

मुझे भी भाई के घर नाथ,
भेज क्यों दिया न सुत के साथ?

राज्य का अधिकारी है ज्येष्ठ
राम में गुण भी हैं सब श्रेष्ठ।

भला फिर भी क्या मेरा वत्स,
शान्त रस में बनता बीभत्स?

तुम्हारा अनुज भरत हे राम,
नहीं है क्या नितान्त निष्काम?

जानते जितना तुम कुल धन्य,
भरत को कौन जानता अन्य?

भरत रे भरत, शील-समुदाय,
गर्भ में आकर मेरे हाय,

हुआ यदि तू भी संशय-पात्र,
दग्ध हो तो मेरा यह गात्र!

चली जा पृथिवी, तू पाताल,
आपको संशय में मत डाल।

कहीं तुझ पर होता विश्वास,
भरत में पहले करता वास।

अरे विश्वास, विश्व-विख्यात
किया है किसने तेरा घात?

भरत ने? वह है तेरी मूर्ति,
राम ने? वह है प्राणस्फूर्ति।

देव ने? वे हैं सदय सदैव,
दैव ने? हा घातक दुर्दैव!

तुझे क्या है अदृष्ट, हे इष्ट?
सूर्य कुल का हो आज अरिष्ट?

बाँध सकता है कहाँ परन्तु—
राघवों को अदृष्ट का तन्तु?

भाग्य-वश रहते हैं बस दीन,
वीर रखते हैं उसे अधीन

हाय! तब तूने अरे अदृष्ट,
किया क्या जीजी को आकृष्ट?

जान कर अबला, अपना जाल—
दिया है उस सरला पर डाल?

किन्तु हा ! यह कैसा सारल्य ?
सालता है जो बनकर शल्य।

भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह।

बहन कौसल्ये, कह दो सत्य,
भरत था मेरा कभी अपत्य ?

पुत्र था कभी तुम्हारा राम ?
हाय रे ! फिर भी यह परिणाम ?

किन्तु चाहे जो कुछ हो जाय,
सहूँगी कभी न यह अन्याय।

करूँगी मैं इसका प्रतिकार;
पलट जावे चाहे संसार।

नहीं है कैकेयी निर्बोध,
पुत्र का भूले जो प्रतिशोध।

कह सब मुझको लोभासक्त,
किन्तु सुत, हूजो तू न विरक्त।”

× × ×

भरत की माँ हो गईं अधीर,
क्षोभ से जलने लगा शरीर।

दाह से भरा सौतिहा डाह,
बहाता है बस विषप्रवाह।

मानिनी कैकेयी का कोप,
बुद्धि का करने लगा विलोप।

और रह सकी न अब वह शान्त,
उठी आँधी सी होकर भ्रान्त।

एड़ियों तक आ छूटे केश,
हुआ देवी का दुर्गा-वेश।

पड़ा तब जिस पदार्थ पर हस्त
उसे कर डाला अस्त-व्यस्त।

तोड़ कर फेंके सब शृंगार,
अश्रुमय - से थे मुक्ताहार।

मत्तकरिणी-सी दल कर फूल
घूमने लगी आपको भूल।

चूर कर डाले सुन्दर चित्र,
हो गये वे भी आज अमित्र!

बताते थे आआ कर श्वास,
हृदय का ईर्ष्या-वह्नि-विकास।

पतन का पाते हुए प्रहार
पात्र करते थे हाहाकार—

"दोष किसका है, किस पर रोष,
किन्तु यदि अब भी हो पारितोष!"

× × ×

इसी क्षण कौसल्या अन्यत्र,
सजा कर पट-भूषण एकत्र—

वधू को युवराज्ञी के योग्य,
दे रही थीं उपदेश मनोज्ञ।

इधर कैकेयी उनका चित्र
खींचती थी सम्मुख अपवित्र।

दोष-दर्शी होता है द्वेष,
गुणों को नहीं देखता त्वेष।

राजमाता होकर प्रत्यक्ष,
उसे करके वे मानों लक्ष,

खड़ी हँसती हैं बारंबार,
हँसी है वह या असि की धार?

उठी तत्क्षण कैकेयी काँप
अधर-दंशन करके कर चाँप।

भूमि पर पटक पटक कर पैर,
लगी प्रकटित करने निज वैर।

अन्त में सारे अंग समेट
गई वह वहीं भूमि पर लेट।

छोड़ती थी जब तब हुंकार,
चुटीली फणिनी सी फुंकार!

× × ×

इधर यों हुआ रंग में भंग,
ऊर्मिला उधर प्राणपति-संग,
भरत-विषयक ही वार्तालाप
छेड़कर सुनती थीं चुपचाप।

बताते थे लक्ष्मण वह भेद
कि "इसका है हम सबको खेद

किन्तु अवसर था इतना अल्प
न आ सकते वे शुभ-संकल्प।

परे थी और न ऐसी लग्न।
पिता भी थे आतुरता-मग्न।

चलो, अविभिन्न आर्य की मूर्ति,
करेंगी भरत-भाव की पूर्ति।"

× × ×

इस समय क्या करते थे राम?
हृदय के साथ हृदय-संग्राम।

उच्च हिमगिरि-से भी वे धीर
सिन्धु सम थे सम्प्रति गम्भीर।

उपस्थित वह अपार अधिकार
दीख पड़ता था उनको भार।

पिता का निकट देख वन-वास
हो रहे थे वे आप उदास।

हाय ! वह पितृ वत्सलता-भोग,
और निज बाल्यभाव का योग,

विगत सा समझ एक ही संग,
शिथिल-से थे उनके सब अंग।

कहा वैदेही ने—"हे नाथ,
अभी तक चारों भाई साथ—

भोगते थे तुम सम सुख-भोग,
व्यवस्था मेट रही वह योग।

भिन्न-सा करके कोशलराज
राज्य देते हैं तुमको आज।

तुम्हें रुचता है यह अधिकार ?"
"राज्य है प्रिये, भोग या भार ?

बड़े के लिए बड़ा ही दंड !
प्रजा की थाती रहे अखण्ड।

तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य,
यहाँ राहित्य नहीं, साहित्य।

रहेगा साधु भरत का मन्त्र,
मनस्वी लक्ष्मण का बल-तन्त्र।

तुम्हारे लघु देवर का धाम,
मात्र दायित्व-हेतु है राम।"

"नाथ, यह राज-नियुक्ति पुनीत,
किन्तु लघु देवर की है जीत।

हुआ जिनके अधीन नृप-गेह,—
सचिव-सेनापति-सह सस्नेह।"

कोपना कैकेयी की बात
किसी को न थी अभी तक ज्ञात।

न जाने पृथ्वी पर प्रच्छन्न
कहाँ क्या होता है प्रतिपन्न।

× × ×

भूप क्या करते थे इस काल?
लेखनी, लिख उनका भी हाल।

भूप बैठे थे कुलगुरु संग,
भरत का ही था छिड़ा प्रसंग।

कहा कुलगुरु ने—"निस्सन्देह,
खेद है भरत नहीं जो गेह।

किन्तु यह अवसर था उपयुक्त
कि नृप हो जावें चिन्ता-मुक्त।"
भूप बोले—"हाँ, मेरा चित्त
विकल था आत्म-भविष्य-निमित्त

इसी से था मैं अधिक अधीर,
आज है तो कल नहीं शरीर।

मार कर धोखे में मुनि-बाल
हुआ था मुझको शाप कराल।

कि 'तुमको भी निज पुत्र-वियोग
बनेगा प्राण-विनाशक रोग',

अस्तु यह भरत-विरह अक्लिष्ट
दुःखमय होकर भी था इष्ट।

इसी मिष पा जाऊँ चिरशान्ति
सहज ही समझूँ तो निष्क्रान्ति।"

दिया नृप को वसिष्ठ ने धैर्य,
कहा—"यह उचित नहीं अस्थैर्य।

ईश के इंगित के अनुसार
हुआ करते हैं सब व्यापार।"

"ठीक है" इतना कह कर भूप
शान्त हो गये सौम्य शुभरूप।

हो रहा था उस समय दिनान्त,
वायु भी था मानों कुछ भ्रान्त।

गोत्र-गुरु और देव भी आद्य
प्रणति युत पाकर अर्घ्य सपाद्य,

गये तब जाना था जिस ओर
चले नृप भी भीतर इस ओर।

× × ×

अरुण सन्ध्या को आगे ठेल,
देखने को कुछ नूतन खेल,

सजे विधु की बेंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँची तत्काल।

सामने कैकेयी का गेह।
शान्त देखा नृप नें सस्नेह।

मन्थरा किन्तु गई थी ताड़।
कि यह है ज्वालामुखी पहाड़।

पधारे तब भीतर भूपाल,
वहाँ जाकर देखा जो हाल

रह गये उससे वे जड़-तुल्य,
बढ़ा भय-विस्मय का बाहुल्य।

न पाकर मानों आज शिकार
सिंहनी सोती थी सविकार।

कोप क्या इसका यह एकान्त।
प्राण लेकर भी होगा शान्त!

कुशल है यदि ऐसा हो जाय,
भूप-मुख से निकला बस "हाय!"

टूटकर यह तारा इस रात
न जाने, करे न क्या उत्पात!

पड़ी थी बिजली-सी विकराल,
लपेटे थे घन-जैसे बाल।

कौन छेड़े ये काले साँप?
अवनिपति उठे अचानक काँप।

किन्तु करते क्या, धीरज धार,
बैठ पृथिवी पर पहली बार,

खिलाते-से वे व्याल विशाल,
विनयपूर्वक बोले भूपाल—

"प्रिये, किसलिए आज यह क्रोध ?
नहीं होता कुछ मुझको बोध।

तुम्हारा धन है मान अवश्य,
किन्तु हूँ मैं तो यों ही वश्य।

जान पड़ता यह नहीं विनोद,
आज यद्यपि सबको है मोद।

सजे जाते हैं सुख के साज,
तुम्हें क्या दुःख हुआ ह आज ?

अम्ल होकर भी मधुर रसाल,
गया निज प्रणय-कलह का काल,

आज होकर हम रागागीत,
हुए प्रेमी से पितर पुनीत।

भरत की अनुपस्थिति का खेद,
किन्तु है इसमें ऐसा भेद,

निहित है जिसमें मेरा क्षेम,
प्रिये, प्रत्यय रखता है प्रेम।

हुआ हो यदि कुछ रोग-विकार,
बुलाऊँ वैद्य, करूँ उपचार।

अमृत भी मुझको नहीं अलभ्य,
कि मैं हूँ अमर-सभा का सभ्य।

किया हो कहीं किसी ने दोष
कि जिसके कारण है यह रोष,

बता दो तो तुम उसका नाम,
दैव है निश्चय उस पर वाम,

सुनूँ मैं उसका नाम सुमिष्ट,
कौन सी वस्तु तुम्हें है इष्ट?

जहाँ तक दिनकर-प्रसार,
वहाँ तक समझो निज अधिकार।

किसी को करना हो कुछ दान,
करो तो दुगना आज प्रदान,

भरा रत्नाकर-सा भाण्डार
रीत सकता है किसी प्रकार?

माँगना हो तुमको जो आज
माँग लो, करो न कोप न लाज।

तुम्हें पहले ही दो वरदान।
प्राप्य हैं, फिर भी क्यों यह मान?

याद है वह संवर-रण-रंग,
विजय जब मिली व्रणों के संग?

किया था किसने मेरा त्राण?
विकल क्यों करती हो अब प्राण?"

हुआ सचमुच यह प्रिय संवाद,
आ गई कैकेयी को याद।

बिना खोले फिर भी वह नेत्र
चलाने लगी वचन मय वेत्र।

"चलो, रहने दो झूठी प्रीति,
जानती हूँ मैं यह नृप-नीति।

दिया तुमने मुझको क्या मान,
वचन मय वही न दो वरदान ?

भूप ने कहा—"न मारो बोल,
दिखाऊँ कहो हृदय को खोल ?

तुम्हीं ने माँगा कब क्या आप ?
प्रिये, फिर भी क्यों यह अभिशाप ?

भला माँगो तो कुछ इस बार,
कि क्या दूँ दान, नहीं, उपहार ?"

मानिनी बोली निज अनुरूप—
"न दोगे वे दो वर भी भूप !"

कहा नृप ने लेकर निःश्वास—
"दिलाऊँ मैं कैसे विश्वास ?

परीक्षा कर देखो कमलाक्षि,
सुनो तुम भी सुरगण, चिरसाक्षि !

सत्य से ही स्थिर है संसार,
सत्य ही सब धर्मों का सार,

राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार,
सत्य पर सकता हूँ सब वार।"

सरल नृप को छल कर इस भाँति,
गरल उगले उरगी जिस भाँति,

भरत-सुत-मणि की माँ मुद मान,
माँगने चली उभय वरदान—

"नाथ, मुझको दो यह वर एक—
भरत का करो राज्य-अभिषेक।

दूसरा, सुन लो, न हो उदास,
चतुर्दश वर्ष राम-वन-वास!'

\+ + +

वचन सुन ऐसे क्रूर-कराल,
देखते ही रह गये नृपाल।

वज्र सा पड़ा अचानक टूट,
गया उनका शरीर-सा छूट।

उन्हें यों हतज्ञान-सा देख,
ठोकती-सी छाती पर मेख,

पुनः बोली वह भौंहें तान—
"मौन हो गये, कहो हाँ या न!"

भूप फिर भी न सके कुछ बोल,
मूर्ति से बैठे रहे अडोल।

दृष्टि ही अपनी करुण कठोर
उन्होंने डाली उसकी ओर!

कहा फिर उसने देकर क्लेश—
"सत्य-पालन है यही नरेश?

उलट दो बस तुम अपनी बात,
मरूँ मैं करके अपना घात।"

कहा तब नृप ने किसी प्रकार—
"मरो तुम क्यों भोगो अधिकार।

मरूँगा तो मैं अगति-समान,
मिलेंगे तुम्हें तीन वरदान!"

देख ऊपर को अपने आप—
लगे नृप करने यों परिताप—

"देव, यह सपना है कि प्रतीति?
यही है नर नारी की प्रीति?

किसी को न दें कभी वर देव,
वचन देना छोड़ें नर-देव।

दान में दुरुपयोग का वास,
किया जावे किसका विश्वास?

जिसे चिन्तामणि-माला जान,
हृदय पर दिया प्रधान स्थान,

अन्त में लेकर यों विष-दन्त
नागिनी निकली वह हा हन्त!

राज्य का ही न तुझे था लोभ,
राम पर भी था इतना क्षोभ ?

न था वह निस्पृह तेरा पुत्र ?
भरत ही था क्या मेरा पुत्र ?

राम-से सुत को भी वनवास,
सत्य है यह अथवा परिहास,

सत्य है तो है सत्यानाश,
हास्य है तो है हत्या-पाश !"

प्रतिध्वनि-मिष ऊँचा प्रासाद।
निरन्तर करता था अनुनाद।

पुनः बोले मुँह फेर महीप—
"राम, हा राम, वत्स, कुल-दीप !"

हो गये गद्‌गद् वे इस बार,
तिमिरमय जान पड़ा संसार।

गृहागत चन्द्रालोक-विधान
जंचा निज भावी-शव-परिधान।

सौध बन गया श्मशान-समान,
मृत्यु सी पड़ी कैकयी जान।

चिता के अंगारे से दीप,
जलाते थे प्रज्वलित समीप

"हाय! कल क्या होगा? कह काँप,
रहे वे घुटनों में मुँह ढाँप।

आपसे ही अपने को आज
छिपाते थे मानों नर-राज !

× × ×

वचन पलटें कि भेजें राम को वन में,
उभय विध मृत्यु निश्चित जान कर मन में,

हुए जीवन-मरण के मध्य धृत-से वे,
रहे बस अर्द्धजीवित, अर्द्ध मृत से वे ।

× × ×

इसी दशा में रात कटी,
छाती-सी पौ प्रात फटी।

अरुण भानु प्रतिभात हुआ,
विरूपाक्ष-सा ज्ञात हुआ !

(साकेत से)

जयशंकर 'प्रसाद'

आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावाद की धारा का प्रवर्त्तन करने वाले महान् कवि श्री जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म १८९० ई० काशी में के 'सुंघनी साहु' नाम से प्रसिद्ध घराने में हुआ। यद्यपि उनकी स्कूल की शिक्षा आठवीं कक्षा के बाद ही समाप्त हो गई थी, किन्तु घर पर रहकर ही उन्होंने आधुनिक देशी और विदेशी साहित्य के अतिरिक्त अपने देश की प्राचीन संस्कृति और इतिहास का गहन अध्ययन और मनन किया था; जिसकी स्पष्ट छाप उनकी प्रत्येक कृति पर है। हिन्दी साहित्य के भंडार को अपनी अनल्प अमर रचनाओं से समृद्ध बनाकर १९३७ ई० में, जब कि उनकी अवस्था अड़तालीस वर्ष की भी नहीं थी, उन्होंने अपने आत्मा को विश्वात्मा में लीन कर दिया।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतः-समुच्छ्वसित अभिव्यक्ति-बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के स्वयं निकल पड़ा हुआ भावस्रोत-ही छायावादी कविता का प्राण है।" 'प्रसाद' जी की काव्य-कृतियों में छायावाद की यह मूल प्रवृत्ति तो आधार रूप में वर्त्तमान है ही, साथ ही अतीत के प्रति उनकी आसक्ति तथा एक अव्यक्त अवगुंठनमय चिरंतन प्रिय से मिलने का उनका कुतहल उन्हें दूसरे छायावादी कवियों से पृथक् कर देता है। उनकी पहली विशेषता ने उनकी रचनाओं को एक सुदृढ़ सांस्कृतिक आधार प्रदान किया है, तथा दूसरी विशेषता ने उनके काव्य पर आध्यात्मिक रहस्य-

वाद का एक झीना आवरण डाल दिया है। 'प्रसाद' जी की एक तीसरी विशेषता और है—और वह है उनके अन्तःकरण में निरन्तर प्रकाशित रहने वाली देश-प्रेम को अखंड ज्योति। 'प्रसाद' के कवि-व्यक्तित्व की इन अतिरिक्त विशेषताओं के कारण प्रगीत मुक्तक का क्षेत्र उनके लिए बहुत छोटा पड़ गया था, और यही कारण है कि उनकी प्रतिभा का तेज साहित्य के विविध क्षेत्रों में विकीर्ण होता हुआ अन्त में 'कामायनी' महाकाव्य के रूप में प्रकाशित हुआ।

जैसा अभी संकेत किया गया, 'प्रसाद' जी ने केवल कविता ही नहीं, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबंध भी लिखे हैं। साहित्य के प्रत्येक वर्ग को उनकी देन असाधारण है।

उद्‌बोधन

बीती विभावरी जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लायी—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोयी है आली !
आँखों में भरे बिहाग री !

मधु ऋतु

अरे आ गई है भूली सी—
यह मधु-ऋतु दो दिन को,
छोटी सी कुटिया में रच दूँ,
नई व्यथा साथिन को !
वसुधा नीचे ऊपर नभ हो,
नीड़ अलग सब से हो,
झाड़-खंड के चिर पतझड़ में
भागो सूखे तिनको !
आशा से अंकुर झूलेंगे
पल्लव पुलकित होंगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह,
आह, खलेगा किनको ?

सिहर भरी कंपती आवेंगी
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जगाकर—
मानस नयन नलिन को।
जवा कुसुम-सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची में,
हंसी भरे उस अरुण अधर का
राग रंगेगा दिन को।
अन्धकार का जलधि लाँघ कर
आवेंगी शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से है,
दे देने दो इनको।

वरुणा की कछार

(मूलगन्ध कुटी विहार के उपलक्ष्य में)

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!
सतत व्याकुलता के विश्राम
अरे ऋषियों के कानन-कुंज!
जगत नश्वरता के लघु त्राण
लता, पादप, सुमनों के पुंज।

तुम्हारी कुटियों में चुपचाप
चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि,
गूँजता था जिसमें संसार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारे कुंजों में तल्लीन,
दर्शनों के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव,
स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ,
परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क,
हृदय का कितना है अधिकार?

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

छोड़ कर पार्थिव भोग विभूति,
प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य,
पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार।
दुःख का करके सत्य निदान,
प्राणियों का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक संवाद,
तथागत आया तेरे द्वार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

मुक्ति-जल की वह शीतल धार।
जगत की ज्वाला करती शांत।
तिमिर का हरने को दुख भार,
तेज अमिताभ अलौकिक कांत।
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध,
प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव-बन्ध,
तुम्हें है यह पूरा अधिकार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

छोड़कर जीवन के अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व-मानवता का जयघोष,
यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र।
मिला था वह पावन आदेश,
आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारा वह अभिनंदन दिव्य,
और उस यश का विमल प्रचार।

सकल वसुधा को दे सन्देश,
धन्य होता है वारम्वार।
आज कितनी शताब्दियों बाद,
उठी ध्वंसों में यह झंकार।
प्रतिध्वनि जिसकी सुने दिगंत,
विश्व वाणी का बने विहार॥

('लहर' से)

भावी शिशु के स्वागत में

"मैंने तो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटीर",
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वहीं अधीर।
उस गुफा समीप पुआलों की
छाजन छोटी-सी शांति-पुंज,
कोमल लतिकाओं की डालें
मिल सघन बनाती जहाँ कुंज।
थे वातायन भी कटे हुए
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र,
आवें क्षण भर तो चले जायँ
रुक जायँ कहीं न समीर, अभ्र।
उसमें था झूला पड़ा हुआ
वेतसी लता का सुरुचि-पूर्ण,
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनों का कोमल सुरभि-चूर्ण।

कितनी मीठी अभिलाषाएँ
उसमें चुपके से रहीं घूम !
कितने मंगल के मधुर गान
उसके कोनों को रहे चूम !

मनु देख रहे थे चकित नया
यह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान !
पर कुछ अच्छा सा नहीं लगा
"यह क्यों किसका सुख साभिमान !"

चुप थे, पर श्रद्धा ही बोली
"देखो यह तो बन गया नीड़,
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़।

तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ,
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ।

मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर-विभोर—
'चल री तकली धीरे धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।

जीवन का कोमल तंतु बढ़े
तेरी ही मंजुलता समान,
चिर नग्न प्राण उनमें लिपटें,
सुन्दरता का कुछ बढ़े मान।

किरनों सी तू बुन दे उज्ज्वल
मेरे मधु जीवन का प्रभात,
जिसमें निर्वसना प्रकृति सरल
ढंक ले प्रकाश से नवल गात।
वासना-भरी उन आँखों पर
आवरण डाल दे कांतिमान,
जिसमें सौन्दर्य निखर आवे
लतिका में फुल्ल कुसुम-समान।'
अब वह आगंतुक गुफा बीच
पशु-सा न रहे निर्वसन नग्न,
अपने अभाव की जड़ता में
वह रह न सकेगा कभी मग्न
सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न;
मैं उसके लिए बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन।
झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूंगी बदन चूम,
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।
वह आवेगा मृदु मलयज-सा
लहराता अपने मसृण बाल,
उसके अधरों से फैलेगी
नव मधुमय स्मिति-लतिका-प्रवाल।
अपनी मीठी रसना से वह

बोलेगा ऐसे मधुर बोल,
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा
जो कुसुम धूलि मकरंद घोल।
मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध,
उन निर्विकार नयनों में जब
देखूँगी अपना चित्र मुग्ध।"

('कामायनी' से)

प्रयाण-गीत

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो!"
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के—
रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिन्धु में—सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो।

('चन्द्रगुप्त' से)

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि 'निराला' का जन्म १८९६ ई० में बंगाल में हुआ। उनकी आरंभिक शिक्षा भी बँगला में ही हुई। तत्कालीन बंगला साहित्य की रहस्यवादी और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का संस्कार लेकर वे हिन्दी कविता के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। गतानुगतिकता के प्रति छायावादी कवियों द्वारा उठाए गए विद्रोह के स्वर में 'निराला' का स्वर सबसे अधिक तीव्र था। यों तो 'निराला' जी ने कहानी, उपन्यास और निबन्ध भी लिखे हैं, किन्तु उनकी ख्याति का मुख्य आधार उनका काव्य-साहित्य ही है। 'निराला' जी अपनी जटिलता और दुर्बोधता के कारण यद्यपि बहुत लोक-प्रिय नहीं हो सके, किन्तु उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के गौरव ने छोटे-बड़े सभी को अभिभूत किया है। खेद है कि इधर कई वर्षों से आप शारीरिक एवं मानसिक अस्वस्थता से पीड़ित हैं।

'निराला' जी ओज और पौरुष के कवि हैं। उनकी अधिकांश श्रेष्ठ रचनाएँ कथा का आश्रय लेकर लिखी गई हैं। उन कथाओं के मूल में कोई-न-कोई मर्मस्पर्शी भाव है, और उनके स्वच्छंद छंद की वेगवती धारा उस आवेग-मय भाव का वहन करती हुई पाठक अथवा श्रोता के अंतस्तल को सहज ही पूर्णतया आप्लावित कर देती है। 'निराला' जी ने जब कभी शब्दों की तूलिका से किसी दृश्य, व्यक्ति अथवा वस्तु का चित्र अंकित करने का प्रयास किया है, उनका चित्र सजीव और मूर्त्त हो उठा है। प्रकृति को मानवीय रूप प्रदान करने में वे सिद्ध-हस्त हैं। 'निराला' जी हिन्दी की एक अमूल्य विभूति हैं।

सरस्वती-वन्दना

वर दे, वीणावादिनि वर दे!
प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत-मंत्र नव
भारत में भर दे!

काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर,
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर,
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर,
जगमग जग कर दे!

नव गति, नव लय, ताल छंद नव,
नवल कंठ, नव जलद-मंद्ररव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर नव स्वर दे!

('गीतिका' से)

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार।
समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु-से,
सिन्धु - नद-तीर वासी! –
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग - चमू - संग,
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊंगा,
गोविन्दसिंह निज,
नाम जब कहाऊंगा।"

किसी ने सुनाया यह
वीर - जनमोहन, अति
दुर्जय संग्राम - राग,
फाग था खेला रण

बारहों महीनों में।
शेरों की माँद में,
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार!

सत् श्री अकाल,
भाल-अनल धक धक कर जला,
भस्म हो गया था काल,
तीनों गुण—ताप त्रय,

अभय हो गये थे तुम,
मृत्युंजय व्योमकेश के समान,
अमृत - सन्तान ! तीव्र,
भेदकर सप्तावरण - मरण-लोक,

शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ,
जहाँ आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक बार।
सिंही की गोद से छीनता है शिशु कौन ?

मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण
रे अजान,
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमेष—

दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब,
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है।
किन्तु क्या?
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं,
गीता है, गीता है,

स्मरण करो बार बार—
जागो फिर एक बार!
पशु नहीं, वीर तुम,
समर-शूर, क्रूर नहीं,

कालचक्र में हो दबे,
आज तुम राजकुँवर,
समर सरताज!
मुक्त हो सदा ही तुम,

बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।
महा-मन्त्र ऋषियों का
अणुओं परमाणुओं में फूँका हुआ,

"तुम हो महान्,
तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीनभाव,
कायरता, कामपरता,

ब्रह्म हो तुम,
पदरज पर भी है नहीं
पूरा यह विश्वभार"—
जागो फिर एक वार!

सन्ध्या सुन्दरी

दिवसावसान का समय,
मघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे।
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु ज़रा गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से,
हृदयराज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन रुनझुन नहीं,
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप, चुप, चुप,"
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम-मंडल में—जगतीतल में—

सोती शान्त सरोवर पर उस अमल-कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अतिविस्तृत वक्षःस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि प्रबल में—
क्षिति में-जल में-नभ में-अनिल-अनल में—
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप, चुप, चुप,"
है गूँज रहा सब कहीं,—
और क्या है ? कुछ नहीं।
मदिरा की वह नदी बहाती आती;
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह अगणित मीठे सपने,
अर्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती तब लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता तब एक बिहाग।

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

ाथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट चलते हैं,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।
भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता-भाग्य-विधाता से क्या पाते?
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे हैं जूठी पत्तल कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।

('अपरा' से)

सुमित्रानन्दन पन्त

भाव, भाषा और शैली सभी की दृष्टियों से हिन्दी के सुकुमारतम कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म शोभामयी प्रकृति के सुकुमार अंचल-अल्मोड़े-में १९०१ ई० में हुआ। प्रकृति और मानव के सौन्दर्य के प्रति एक अबोध शिशु के औत्सुक्य और आश्चर्य का भाव लेकर पन्त जी ने कविता की भूमि पर पदार्पण किया, और शीघ्र ही अपने सरल, सौम्य और भोले व्यक्तित्व के कारण नवयुवक साहित्यकारों के एक विशाल समूह को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अभिव्यक्ति की सुबोध स्पष्टता के कारण छायावादी कवियों में जितनी लोकप्रियता पंत जी को प्राप्त हुई, उतनी किसी और कवि को नहीं हो सकी है।

खड़ी बोली को, जो कुछ समय पहले तक कविता के लिए अनुपयुक्त समझी जाती थी, उसके काव्योचित मधुरतम रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय कवि-श्री सुमित्रानन्दन पन्त को ही है। "उन्होंने शब्दों की प्रकृति, उनकी अर्थ-बोधन-क्षमता, उनके अर्थों के भेदक पहलुओं की विशिष्टता, छंदों की प्रकृति, तुक और ताल का महत्त्व आदि को समझा था, और समझने के बाद काव्य में प्रयोग किया था।" (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

कवि की कल्पना ने पवित्रता की महिमा से मंडित जिस अनिन्द्य सौन्दर्य का दर्शन इस लोक में करना चाहा था, उसके स्वरूप को विकृत

करने वाली हैं आधुनिक युग की भौतिकता और यांत्रिकता। इनके विरोध में स्नेह, समत्व एवं सहृदयता के सरल, सुन्दर एवं सनातन आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए एक सशक्त सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता कवि के चित्त को मथ रही थी। पन्त जी की 'पल्लव-गुंजन' के बाद की कृतियों में उनके इसी हृदयस्थ संघर्ष की अभिव्यक्ति है।

पन्त जी की इधर की रचनाओं में उनके प्रारंभिक बाल-कुतूहल का स्थान एक संयमित एवं गम्भीर आध्यात्मिकता ने लिया है। वे महात्मा अरविंद के तत्त्वदर्शन और महात्मा गांधी के बलिदान से विशेष प्रभावित एवं चालित हुए हैं।

इस प्रकार हिन्दी के गौरव श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तित्व निरन्तर गतिशील एवं विकासोन्मुख है।

निष्ठुर परिवर्तन

— १ —

अहे निष्ठुर परिवर्तन!
तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन!
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन!
अहे वासुकि सहस्र फन!

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्ष-स्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर!
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कंचुक कल्पान्तर!
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुंडल
दिङ् मंडल!

—२—

अहे दुर्जेय विश्वजित्।
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ,
घूमते शत शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ।

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित,

नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित।
आधि, व्याधि, वहु-वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल,
बह्नि, बाढ़, भूकम्प, तुम्हारे विपुल सैन्य दल;
अहे निरंकुश! पदाघात से जिनके विह्वल

हिल हिल उठता है टलमल
पद दलित धरातल!

—३—

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय सूचन;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण!

विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिलकाल कृमि-से घुस पल-पल;
तुम्हीं स्वेद सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषि फल!
अये सतत ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ्मंडल

नैश गगन सा सकल
तुम्हारा ही समाधि स्थल!

—४—

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास,
विश्व का अश्रु पूर्ण इतिहास!
तुम्हारा ही इतिहास!

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में नर्भर,
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृंग वर,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य-भूमि के मेघाडम्बर।
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडुगन,
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शतशत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन।
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन।

—५—

जगत की शत कातर चीत्कार
बेधतीं बधिर! तुम्हारे कान!
अश्रु स्रोतों की अगणित धार
सींचतीं उर पाषाण!
अरे क्षण क्षण सौ सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश!
चतुर्दिक् घहर घहर आक्रान्ति
ग्रस्त करती सुख शान्ति!
हाय री दुर्बल भ्रान्ति!
कहाँ नश्वर जगती में शान्ति?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति!
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम!

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन !
—यही तो है असार संसार,
सृजन, सिंचन संहार !
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार,
उलूकों के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार !
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल।

('पल्लव' से)

लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल खिल पडती हैं प्रतिपल,
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चल करतल में टलमल !
छू छू मृदु मलयानिल रह रह
करता प्राणों को पुलकाकुल;
जीवन की लतिका में लहलह
विकसा इच्छा के नव नव दल!
सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि
गृह पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल हिल
खस खस पडता उर से अंचल !
चिर जन्म-मरण को हँस हँस कर
हम आलिंगन करतीं पल पल.

फिर फिर असीम से उठ उठ कर
फिर फिर उसमें हो हो ओझल।

('ज्योत्स्ना' से)

सुख-दुख

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख,
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।
सुखदुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव - जग में बँट जावें
दुख सुख से औ, सुख दुख से।
अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न,
दुख-सुख की निशा दिवा में,
सोता - जगता जग-जीवन।
यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का,
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानस-जीवन का!

('गुंजन' से)

भारत माता
ग्रामवासिनी।

खेतों में फैला के श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,

मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,

वह अपने घर में
प्रवासिनी।

तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्रजन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,

नत मस्तक
तरु तल निवासिनी।

स्वर्ण शस्य पर-पद तल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,

राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी।

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !

सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी ! ('ग्राम्या' से)

बापू

किन तत्त्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को ?
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को ?
सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जावेगा जग जीवन ?
आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता ?
प्रेम शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता ?
बापू ! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण।
भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !
नहीं जानता युग-विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।
नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य
आत्मा के उद्धार के लिए आए तुम अनिवार्य ?

('युगवाणी' से)

महादेवी वर्मा

शब्द और तूलिका पर समान अधिकार रखनेवाली आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए० का जन्म फर्रुखावाद में १९०७ ई० में हुआ। 'चांद' की सम्पादिका के रूप में उन्होंने भारतीय नारी की समस्याओं पर अनेक दृष्टियों से विचार किया था, और प्रयाग महिला विद्यापीठ की अध्यक्षा के रूप में स्त्रीजाति की सर्वांगीण उन्नति के लिए वे निरन्तर सक्रिय हैं। उन्हें प्रकृति से एक ऐसा कोमल, संवेदनशील एवं परदुःखकातर हृदय प्राप्त हुआ है, जिसने केवल उनकी कला को ही जीवंत नहीं वनाया, स्वयं उन्हें भी मानवता के श्रेष्ठ गुणों से युक्त एक आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान किया है।

महादेवी वर्मा के काव्य में विरह-जन्य करुणा की मार्मिक अभिव्यक्ति है। किसी चिरंतन प्रिय के वियोग की पीड़ा उन्हें सदा व्याकुल बनाए रखती है। अपनी प्रेम-साधना में वे इतनी तन्मय हैं कि प्रिय-पथ के शूल भी उन्हें प्यारे ही लगते हैं। प्रिय तक पहुंचने के मार्ग की कोई भी बाधा इतनी बड़ी नहीं है कि उन्हें उनके निश्चय से पराङ्मुख कर सके। विरह की वेदना ही अपनी चरम-सीमा पर पहुँच कर मधुयामिनी का आनन्द बन गई है। रहस्यवाद का इतना स्पष्ट और आद्यन्तव्यापक संकेत किसी अन्य आधुनिक कवि के काव्य में उपलब्ध नहीं है।

अनुभूतिमयी वेदना की इतनी तीव्र अभिव्यक्ति कर सकने पर भी महादेवी जी अपने शब्द-चयन और भाव-विन्यास में एक सजग शिल्पी की सतर्कता लेकर पाठक के सामने आती हैं। भावावेश ने उनके रचना-शिल्प

को कभी भी अस्तव्यस्त नहीं होने दिया है। संगीतमय समंजस भावना के कलापूर्ण हार में उनके शब्द मोती की तरह जड़े हुए प्रतीत होते हैं।

जायसी की प्रेम-पीड़ा, मीरा की तल्लीनता और नन्ददास का शब्द-शिल्प महादेवी जी के काव्य में एकत्र हो गए हैं।

गीत

— १ —

वे मुस्काते फूल, नहीं—
जिनको आता है मुरझाना,
वे तारों के दीप, नहीं—
जिनको भाता ह बुझ जाना,

वे नीलम के मेघ, नहीं—
जिनकी है घुल जाने की चाह,
वह अनन्त ऋतुराज, नहीं—
जिसने देखी जाने की राह!

वे सूने से नयन, नहीं—
जिनमें बनते आँसू-मोती,
वह प्राणों की सेज, नहीं—
जिनमें बेसुध पीड़ा सोती;

ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद!

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार!

— २ —

तुम सो जाओ मैं गाऊं!
मुझको सोते युग बीते
तुमको यों लोरी गाते,
अब आओ मैं पलकों में स्वप्नों से सेज बिछाऊं!

प्रिय! तेरे नभ मन्दिर के
मणि-दीपक बुझ-बुझ जाते;
जिनका कण कण विद्युत् है मैं ऐसे प्राण जलाऊँ!
क्यों जीवन के शूलों में
प्रतिक्षण आते जाते हो?
ठहरो सुकुमार! गलाकर मोती पथ में फैलाऊँ!
पथ की रज में है अंकित
तेरे पदचिह्न अपरिचित;
मैं क्यों न इसे अंजन कर आँखों में आज बसाऊँ!
जब सौरभ फैलाता उर
तब स्मृति जलती है तेरी;
लोचन कर पानी पानी मैं क्यों न उसे सिंचवाऊँ!
इन फूलों में मिल जातीं
कलियाँ तेरी माला की;
मैं क्यों न इन्हीं काँटों का संचय जग को दे जाऊँ!
अपनी असीमता देखो
लघु दर्पण में पल भर तुम;
मैं क्यों न यहाँ क्षण क्षण को धो धो कर मुकुर बनाऊँ!
हँसने में छू जाते तुम
रोने में वह सुधि आती;
मैं क्यों न जगा अणु-अणु को हँसना रोना सिखलाऊँ!

— ३ —

प्रिय-पथ के यह शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं।
हीरक सी वह याद
बनेगा जीवन सोना,

जल जल तप तप किन्तु,
खरा इसको है होना!
चल ज्वाला के देश जहाँ अंगारे ही हैं।
तम-तमाल ने फूल
गिरा दिन-पलकें खोलीं,
मैंने दुख में प्रथम
तभी सुख-मिश्री घोली!
ठहरें पल भर देव अश्रु यह खारे ही हैं!
ओढ़े मेरी छाँह
रात देती उजियाला,
रजकण मृदु पद चूम
हुए मुकुलों की माला।
मेरा चिर इतिहास चमकते तारे ही हैं।
आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत क्या कैसी बाधा।
खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं!

('यामा' से)

—४—

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
घेर ले छाया अमा बन,
आज कज्जल-अश्रुओं में रिमझिमा ले यह घिरा घन;
और होंगे नयन सूखे,
तिल बुझे औ, पलक रूखे,

आर्द्र चितवन में यहाँ
शत विद्युतों में दीप खेला!
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे,
दुखव्रती निर्माण-उन्मद,
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक - संसृति-
से तिमिर में स्वर्ण-वेला!
दूसरी होगी कहानी,
शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोई निशानी;
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित,
मोतियों की हाट औ,
चिनगारियों का एक मेला।
हास का मधु-दूत भेजो,
रोष की भ्रू-भंगिमा पतझार को चाहे सहेजो!
ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना-जल, स्वप्न - शतदल,
जान लो वह मिलन-एकाकी
विरह में है दुकेला!

— ५ —

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो!
रजत शंख-घड़ियाल स्वर्ण वंशी-वीणा-स्वर,
गए आरती-वेला को शत शत लय से भर,

जब था कल कंठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला!
अब मन्दिर में इष्ट अकेला;
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो।
चरणों से चिह्नित-अलिन्द की भूमि सुनहली,
प्रणत शिरों के अंक लिए चन्दन की दहली;
झरे सुमन बिखरे अक्षत सित,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित,
तम में सब होंगे अन्तर्हित;
सबकी अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो
पल के मनके फेर पुजारी - विश्व सो गया,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया;
साँसों की समाधि सा जीवन,
मसि-सागर सा पंथ गया बन,
रुका मुखर कण कण का स्पन्दन;
इस ज्वाला में प्राण-रूप फिर से ढलने दो।
झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा-जल,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो!

('दीपशिखा' से)

रामधारीसिंह 'दिनकर'

राष्ट्रीय काव्य की परम्परा को समृद्ध करने वाले हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि 'दिनकर' का जन्म १९०८ ई० में हुआ। आप इस समय भारतीय संसद के सदस्य हैं।

'दिनकर' के काव्य में छायावाद युग की अवगुंठनमय सामाजिक चेतना लोक-मंगल की आकांक्षा से सिक्त होकर अपने नैसर्गिक रूप में अभिव्यक्त हुई है। 'दिनकर' के हृदय में यदि एक ओर स्वदेश के प्रति अपार प्रेम है तो दूसरी ओर स्वदेश की सामाजिक विषताओं के प्रति घोर विद्रोह का भाव भी वर्तमान है। उनके यौवन के तेज से प्रदीप्त व्यक्तित्व को अपने मन के भावों को प्रकट करने के लिए लाक्षणिकता-प्रधान वक्र-भंगिमायुक्त शैली तथा नए-नए प्रतीकों की भाषा की अपेक्षा नहीं है। वे तो सीधे ही हृदय से हृदय की बात कहते हैं। वे यौवन और सौन्दर्य की कोमलता और माधुर्य से भी आकृष्ट होते हैं, किन्तु उनके प्रति उनकी कोई आसक्ति नहीं है। मौज और मस्ती, शौर्य और उत्साह उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं। मुक्तक हो अथवा प्रबन्ध, मानव की महिमा उनका मुख्य वर्ण्य-विषय है। युग-पुरुष महात्मा गाँधी के जीवन-दर्शन और बलिदान ने उनकी काव्य-साधना को निरन्तर प्रेरणा प्रदान की है।

'दिनकर' की प्रतिभा अभी विकास के पथ पर है। राष्ट्रभाषा हिन्दी को अब भी उन्हें बहुत कुछ देना शेष है।

दानी कर्ण

वीर कर्ण, विक्रमी, दान का अति अमोघ व्रतधारी,
पाल रहा था वहुत काल से एक पुण्य-प्रण भारी।
रवि-पूजन के समय सामने जो याचक आता था,
मुँह माँगा वह दान कर्ण से अनायास पाता था ।।१।।
थी विश्रुत यह बात, कर्ण गुणवान और ज्ञानी हैं,
दीनों के अवलम्ब, जगत के सर्वश्रेष्ठ दानी हैं।
जाकर उनसे कहो, पड़ी जिस पर जैसी विपदा हो,
गो, धरती, गज, बाजि माँग लो, जो जितना भी चाहो ।।२।।
'नाहीं' सुनी कहाँ, किसने, कब, इस दानी के मुख से ?
धन की कौन विसात ? प्राण भी दे सकते वे सुख से।
और दान देने में वे कितने विनम्र रहते हैं।
दीन याचकों से भी कैसे मधुर वचन कहते हैं ? ।।३।।
करते यों सत्कार कि मानों, हम हों नहीं भिखारी,
वरन, माँगते जो कुछ उसके न्यायसिद्ध अधिकारी।
और उमड़ती है प्रसन्न दृग में कैसी जलधारा,
मानों, सौंप रहे हों हमको ही वे न्यास हमारा ।।४।।
फहर रही थी मुक्त चतुर्दिक् यश की विमल पताका,
कर्ण नाम पड़ गया दान की अतुलनीय महिमा का।
श्रद्धा-सहित नमन करते सुन नाम देश के ज्ञानी,
अपना भाग्य समझ भजते थे उसे भाग्यहत प्राणी ।।५।।
तब कहते हैं, एक वार हट कर प्रत्यक्ष समर से,
किया नियति ने वार कर्ण पर, छिपकर, पुण्य-विवर से।
व्रत का निकष दान था, अवकी चढ़ी निकष पर काया,
कठिन मूल्य माँगने सामने भाग्य देह धर आया ।।६।।

एक दिवस जब छोड़ रहे थे दिनमणि मध्य गगन को,
कर्ण जाह्नवी तीर खड़ा था मुद्रित किये नयन को,
कटि तक डूबा हुआ सलिल में, किसी ध्यान में रत-सा,
अम्बुधि में आकटक निमज्जित कनक-खचित पर्वत-सा ॥७॥

हँसती थीं रश्मियाँ रजत से भरकर वारि विमल को,
हो उठती थीं स्वयं स्वर्ण छू कवच और कुंडल को।
किरण-सुधा पी कमल मोद में भरकर दमक रहा था,
कदली के चिकने पातों पर पारद चमक रहा था ॥८॥

विहग लता-वीरुध-वितान में तट पर चहक रहे थे,
धूप, दीप, कर्पूर, फूल, सब मिलकर महक रहे थे।
पूरी कर पूजा-उपासना ध्यान कर्ण ने खोला,
इतने में ऊपर तट पर खर-पात कहीं कुछ डोला ॥९॥

कहा कर्ण ने, कौन उधर है? बन्धु सामने आओ,
मैं प्रस्तुत हो चुका, स्वस्थ हो, निज आदेश सुनाओ।
अपनी पीड़ा कहो, कर्ण सबका विनीत अनुचर है,
यह विपन्न का सखा तुम्हारी सेवा में तत्पर है ॥१०॥

माँगो, माँगो दान, अन्न या वसन, धाम या धन दूँ?
अपना छोटा राज्य याकि यह क्षणिक, क्षुद्र जीवन दूँ?
मेघ भले लौटे उदास हो किसी रोज सागर से,
याचक फिर सकते निराश पर, नहीं कर्ण के घर से ॥११॥

मही डोलती और डोलता नभ में देव-निलय भी,
कभी-कभी डोलता समर में किंचित् वीर-हृदय भी,
डोले मूल अचल पर्वत का, या डोले ध्रुव तारा,
सब डोलें, पर, नहीं डोल सकता है वचन हमारा ॥१२॥

भलीभाँति कस कर दाता को बोला नीच भिखारी,
धन्य-धन्य, राधेय, दान के अति अमोघ व्रतधारी।
ऐसा है औदार्य, तभी तो कहता प्रति याचक है,
महाराज का वचन सदा, सर्वत्र क्रियावाचक है॥१३॥

मैं सब-कुछ पा गया प्राप्त कर वचन आपके मुख से,
अब तो मैं कुछ लिये बिना भी जा सकता हूँ सुख से।
क्योंकि माँगना है जो कुछ उसको कहते डरता हूँ,
और साथ ही, एक द्विधा का भी अनुभव करता हूँ॥१४॥

कहीं आप दे सकें नहीं जो कुछ मैं धन मागूँगा,
मैं तो भला किसी विध अपनी अभिलाषा त्यागूँगा,
किन्तु, आपकी कीर्ति-चाँदनी फीकी हो जायेगी,
निष्कलंक विधु कहाँ दूसरा फिर वसुधा पायेगी॥१५॥

है सुकर्म क्या संकट में डालना मनस्वी नर को?
प्रण से डिगा आपको दूँगा क्या उत्तर जग भर को?
सब कोसेंगे मुझे कि मैंने पुण्य मही का लूटा,
मेरे ही कारण अभंग प्रण महाराज का टूटा॥१६॥

अतः विदा दें मुझे, खुशी से मैं वापस जाता हूँ।
बोल उठा राधेय, आपको मैं अद्भुत पाता हूँ।
सुर हैं याकि यक्ष हैं अथवा हरि के मायाचर हैं,
समझ नहीं पाता कि आप नर हैं या योनि इतर हैं॥१७॥

भला कौन सी वस्तु आप मुझ नश्वर से माँगेंगे,
जिसे नहीं पाकर निराश हो अभिलाषा त्यागेंगे।
गो, धरती, धन, धाम, वस्तु जितनी चाहें दिलवा दूँ,
इच्छा हो तो शीश काटकर पद पर यहीं चढ़ा दूँ॥१८॥

या यदि साथ लिया चाहें जीवित, सदेह मुझको ही,
तो भी वचन तोड़ कर हूँगा नहीं विप्र का द्रोही।
चलिए, साथ चलूँगा मैं साकल्य आपका ढोते,
सारी आयु बिता दूँगा चरणों को धोते-धोते ॥१९॥

वचन माँग कर नहीं माँगना दान बड़ा अद्‌भुत है,
कौन वस्तु है जिसे न दे सकता राधा का सुत है ?
विप्रदेव ! माँगिए छोड़ संकोच वस्तु मनचाही,
मरूँ अयश की मृत्यु करूँ यदि एक बार भी नाहीं ॥२०॥

सहम गया सुन शपथ कर्ण की, हृदय विप्र का डोला,
नयन झुकाये हुए भिक्षु साहस समेट कर बोला,
धन की लेकर भीख नहीं मैं घर भरने आया हूँ,
और नहीं नृप को अपना सेवक करने आया हूँ ॥२१॥

यह कुछ मुझको नहीं चाहिए, देव धर्म को बल दें,
देना हो तो मुझे कृपा कर कवच और कुंडल दें।
कवच और कुंडल ! विद्युत् छू गई कर्ण के तन को,
पर, कुछ सोच रहस्य कहा उसने गभीर कर मन को ॥२२॥

समझा, तो यह और न कोई, आप स्वयं सुरपति हैं,
देने को आये प्रसन्न हो तप में नई प्रगति है।
धन्य हमारा सुयश आपको खींच मही पर लाया,
स्वर्ग भीख माँगने आज, सच ही, मिट्टी पर आया ॥२३॥

क्षमा कीजिए, इस रहस्य को तुरत न जान सका मैं,
छिपकर आये आप, नहीं इससे पहचान सका मैं।
दीन विप्र ही समझ कहा, धन, धाम, धरा लेने को,
था क्या मेरे पास अन्यथा सुरपति को देने को ? ॥२४॥

केवल गन्ध जिन्हें प्रिय, उनको स्थूल मनुज क्या देगा ?
और व्योमवासी मिट्टी से दान भला क्या लेगा ?
फिर भी देवराज भिक्षुक वनकर यदि हाथ पसारें?
जो भी हो, पर, इस सुयोग को हम क्यों अशुभ विचारें ।।२५।।

अतः, आपने जो माँगा है, दान वही मैं दूँगा,
शिवि-दधीचि की पंक्ति छोड़कर जग में अयश न लूँगा ।
पर, कहता हूँ मुझे वना निस्त्राण छोड़ते हैं क्यों ?
कवच और कुंडल ले करके प्राण छोड़ते हैं क्यों ।।२६।।

यह, शायद, इसलिए कि अर्जुन जिये, आप सुख लूटें,
व्यर्थ न उसके शर अमोघ मुझ पर टकराकर टूटें ।
उधर करें वह भाँति पार्थ की स्वयं कृष्ण रखवाली,
और इधर मैं लड़ूँ लिये यह देह कवच से खाली ।।२७।।

देवराज ! हम जिसे जीत सकते न वाहु के वल से,
क्या है उचित उसे मारें हम न्याय छोड़कर छल से ?
हार-जीत क्या चीज ? वीरता की पहचान समर है,
सच्चाई पर कभी हार कर भी न हारता नर है ।।२८।।

और पार्थ यदि विना लड़े ही जय के लिए विकल है,
तो कहता हूँ, इस जय का भी एक उपाय सरल है ।
कहिए, उसे, मोम की मेरी एक मूर्त्ति वनवाये,
और काटकर उसे, जगत में कर्णजयी कहलाये ।।२९।।

जीत सकेगा मुझे नहीं वह और किसी विध रण में,
कर्ण-विजय की आस तड़प कर रह जायेगी मन में ।
जीते जूझ समर वीरों ने सदा वाहु के बल से,
मुझे छोड़ रक्षित जन्मा था कौन कवच-कुंडल से ? ।।३०।।

मैं ही था अपवाद, आज वह भी विभेद हरता हूँ.
कवच छोड़ अपना शरीर सबके समान करता हू।
अच्छा किया कि आप मुझे समतल पर लाने आये,
हर तनुत्र दैवीय मनुज सामान्य वनाने आये ॥३१॥

अब न कहेगा जगत, कर्ण को ईश्वरीय भी बल था,
जीता वह इसलिए कि उसके पास कवच-कुंडल था।
महाराज! किस्मत ने मेरी की न कौन अवहेला ?
किस आपत्ति-गर्त में उसने मुझको नहीं ढकेला ? ॥३२॥

जन्मा जानें कहाँ, पला पद-दलित सूत के कुल में,
परिभव सहता रहा विफल प्रोत्साहन-हित व्याकुल में।
द्रोणदेव से हो निराश वन में भृगुपति तक धाया,
बड़ी भक्ति की, पर, वदले में शाप भयानक पाया ॥३३॥

और दान, जिसके कारण ही हुआ ख्यात मैं जग में,
आया है बन विघ्न सामने आज विजय के मग में।
ब्रह्मा के हित उचित मुझे क्या इस प्रकार छलना था?
हवन डालते हुए यज्ञ में मुझको ही जलना था ? ॥३४॥

सबको मिली स्नेह की छाया, नई-नई सुविधाएँ,
नियति भेजती रही सदा पर, मेरे हित विपदाएँ,
मन-ही-मन सोचता रहा हूँ, यह रहस्य भी क्या है,
खोज-खोज घेरती मुझी को क्यों बाधा-बिपदा है ? ॥३५॥

और कहें यदि पूर्व जन्म के पापों का यह फल है,
तो फिर विधि ने दिया मुझे क्यों कवच और कुंडल है ?
समझ नहीं पड़ती, विरंचि की बड़ी जटिल है माया,
सब कुछ पाकर भी मैंने यह भाग्य-दोष क्यों पाया ? ॥३६॥

जिससे मिलता नहीं सिद्ध फल मुझे किसी भी व्रत का,
उलटा हो जाता प्रभाव मुझ पर आ धर्म सुगत का।
गंगा में ले जन्म, वारि गंगा का पी न सका मैं,
किये सदा सत्कर्म, छोड़ चिन्ता पर, जी न सका मैं ॥३७॥

जानें क्या मेरी रचना में था उद्देश्य प्रकृति का ?
मुझे बना आगार शूरता का, करुणा का, धृति का,
देवोपम गुण सभी दान कर, जानें, क्या करने को,
दिया भेज भू पर केवल बाधाओं से लड़ने को ? ॥३८॥

फिर कहता हूँ, नहीं व्यर्थ राधेय यहाँ आया है,
एक नया संदेश विश्व के हित वह भी लाया है।
स्यात्, उसे भी नया पाठ मनुजों को सिखलाना है,
जीवन-जय के लिए कहीं कुछ करतब दिखलाना है ॥३९॥

वह करतब है यह कि शूर जो चाहे, कर सकता है,
नियति-भाल पर पुरुष पाँव निज बल से धर सकता है।
वह करतब है यह कि शक्ति बसती न वंश या कुल में,
बसती है वह सदा वीर पुरुषों के वक्ष पृथुल में ॥४०॥

वह करतब है यह कि विश्व ही चाहे रिपु हो जाये,
दगा धर्म दे और पुण्य चाहे ज्वाला बरसाये।
पर, मनुष्य तब भी न कभी सत्पथ से टल सकता है,
बल से अंधड़ को ढकेल वह आगे चल सकता है ॥४१॥

वह करतब है यह कि युद्ध में मारो और मरो तुम,
पर, कुपन्थ में कभी जीत के लिए न पाँव धरो तुम।
वह करतब है यह कि सत्य-पथ पर चाहे कट जाओ,
विजय-तिलक के लिए करोंमें कालिखपर न,लगाओ ॥४२॥

देवराज ! छल, छद्म, स्वार्थ, कुछ भी न साथ लाया हूँ,
मैं केवल आदर्श एक उनका बनने आया हूँ।
जिन्हें नहीं अवलंब दूसरा छोड़ बाहु के बल को,
धर्म छोड़ भजते न कभी जो किसी लोभ से छल को ।।४३।।

मैं उनका आदर्श, जिन्हें कुल का गौरव ताड़ेगा,
नीचवंश जन्मा कहकर जिनको जग धिक्कारेगा।
जो समाज की विषम वह्नि, में चारों ओर जलेंगे,
पग-पग पर झेलते हुए बाधा निःसीम चलेंगे ।।४४।।

मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिये उमंग जिन्हें चिर काल कलपना होगा ।।४५।।

मैं उनका आदर्श, किन्तु, जो तनिक न घबरायेंगे,
निज चरित्रबल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे।
सिंहासन ही नहीं, स्वर्ग भी जिन्हें देख नत होगा,
धर्म-हेतु धन, धाम लुटा देना जिनका व्रत होगा ।।४६।।

श्रम से नहीं विमुख होंगे जो दुख से नहीं डरेंगे,
सुख के लिए पाप से जो नर सन्धि न कभी करेंगे।
कर्ण-धर्म होगा धरती पर वलि से नहीं मुकरना,
जीना जिस अप्रतिम तेज से, उसी शान से मरना ।।४७।।

भुज को छोड़ न मुझे सहारा किसी और संबल का,
बड़ा भरोसा था लेकिन, इस कवच और कुंडल का।
पर; उससे भी आज दूर सम्बन्ध किये लेता हूँ,
देवराज ! लीजिए, खुशी से महादान देता हूँ ।।४८।।

यह लीजिए कर्ण का जीवन और जीत कुरुपति की,
कनक-रचित निश्रेणि अनूपम निज सुत की उन्नति की।
हेतु पांडवों के भय का, परिणाम महाभारत का,
अन्तिम मूल्य किसी दानी जीवन के दारुण व्रत का ॥४९॥

जीवन देकर जय खरीदना, जग में यही चलन है,
विजय दान करता न प्राण को रखकर कोई जन है।
मगर, प्राण रखकर प्रण अपना आज पालता हूँ मैं,
पूर्णाहुति के लिए विजय का हवन डालता हूँ मैं ॥५०॥

देवराज! जीवन में आगे और कीर्ति क्या लूँगा?
इससे बढ़ कर दान अनूपम भला किसे, क्या दूँगा?
अब जाकर कहिए कि पुत्र! मैं वृथा नहीं आया हूँ,
अर्जुन! तेरे लिए कर्ण से विजय माँग लाया हूँ? ॥५१॥

एक विनय है और, आप लौटें जब अमरभुवन को,
दे दें यह सूचना सत्य की खातिर चतुरानन को।
"उद्वेलित जिसके निमित्त पृथ्वीतल का जन-जन है,
कुरुक्षेत्र में अभी शुरू भी हुआ नहीं वह रण है ॥५२॥

दो वीरों ने किन्तु, लिया कर आपस में निपटारा,
हुआ जयी राधेय और अर्जुन इस रण में हारा।"
यह कह, उठा कृपाण कर्ण ने त्वचा छील क्षण भर में,
कवच और कुंडल उतार, धर दिया इन्द्र के कर में ॥५३॥

चकित, भीत चहचहा उठे कुंजों में विहग बिचारे,
दिशा सन्न रह गई देख यह दृश्य भीति के मारे।
सह न सके आघात, सूर्य छिप गये सरक कर घन में,
साधु, साधु की गिरा मन्द्र गूँजी गंभीर गगन में ॥५४॥

अपना कृत्य विचार, कर्ण का करतव देख निराला,
देवराज का मुखमंडल पड़ गया ग्लानि से काला।
क्लिन्न कवच को लिये किसी चिन्ता में पगे हुए-से,
ज्यों के त्यों रह गये इन्द्र जड़ता में ठगे हुए-से ॥५५॥

('रश्मिरथी' से)